



बंबई शहर का दिल

मीना मेनन, नीरा आडारकर

सात मछुवाही द्वीपों से ही बंबई संघटित हुआ था। ब्रितानी ताज को दहेज स्वरूप शादी में इसे भेंट दे दिया गया था। यह नक्शे पर एक उपेक्षित धब्बा-मात्र था। लेकिन 1669 में यह एक महत्वपूर्ण ब्रितानी प्राकृतिक बन्दरगाह के रूप में विकसित हो गया था। सम्राट ने इसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हवाले कर दिया था। एक सौ साल तक कम्पनी ने इसे नजरअन्दाज कर रखा पर जब सूरत का नौसैनिक आधार के रूप में महत्व कम होने लगा तब इसे पहले समुद्री डैकेती रोकने के लिए फिर प्रमुख व्यापार बन्दरगाह के रूप में विकसित किया गया। 1817 तक ब्रितानियों ने फ्रांसीसियों, सिद्धियों और मराठों द्वारा द्वीप पर होने वाले हमलों को नियंत्रित कर लिया था। लन्दन के बाद अंग्रेजों के लिए बम्बई सबसे बड़ा शहर बन गया था। भूमि उद्धार के बाद द्वीप एक दूसरे से जुड़ कर एक हो गए थे। 1661 की 10,000 की जनसंख्या 1780 तक बढ़कर 1,00,000 और 1870 तक कम से कम 8,16,562 हो गई थी। 1951 में जनगणना के बाद 25-3 वर्ग मील 2. में 2.3 मिलियन जनसंख्या रिकार्ड की गई थी।

शहर में आए बदलाव के लिए बहुत से घटक जिम्मेदार हैं। 1780 तक तो सूरत ही कम्पनी का सबसे महत्वपूर्ण गोदाम था। मराठों को हरा कर ब्रिटेन की शक्ति के लिए जिम्मेदार थे, तारघर की स्थापना, सड़कों और रेल से सम्पर्क मार्गों का बन जाना, विदेश के साथ भारत से होने वाला व्यापार और स्वेज कनाल का खुल जाना। इसके अलावा कृषि जगत पर आए संकट के कारण भूखे मर रहे किसानों का मजबूरन शहरों में आकर बस जाना भी एक कारण था। जो भी हो, 1900 में बम्बई सबसे महत्वपूर्ण भारतीय बन्दरगाह बन चुकी थी। वह जो एक बदसूरत बत्तखशावक थी अब सोने के अंडे देनेवाली बत्तख बन चुकी थी।

मुझे याद है कि अपने गाँव से बम्बई आने का सफर बहुत कष्टदायक था। मेरा गाँव बम्बई-गोवा मार्ग के नजदीक कोकण में था। हमें बैलगाड़ी में बैठ कर पहले नागोठाणे जाना पड़ा था। उसके बाद मुसाफिरों के लिए चलने वाली कक्षती से ध्रमतार तक पहुंचने के बाद जहाज में बैठकर बम्बई के भाऊचा धक्का तक पहुंचना होता था। आज

(1980 में उनका देहान्त हो गया था) आज इस सफर को आठ घण्टे लगते हैं। घाट से हम नल बाजार तक पैदल गए थे। मेरी माँ ने हमारा सारा सामान एक गठरी में उठाया हुआ था। हम दोनों नंगे पांव थे और मैं महानगर के नजारे और ध्वनियां फटी अँखों से देख-सुन रहा था। मेरी माँ को कपड़े के एक कारखाने में काम मिल गया। उनको इतना भी बेतन नहीं मिलता था कि वह मेरी स्कूल की फीस अदा कर सके।

मुझे घोड़ों से चलाई जाने वाली ट्रामें बहुत अच्छी लगती थीं। भायखला पुल के नजदीक घोड़े बदले जाते थे। ट्रामें हर जगह नहीं जाती थीं। इसलिए काफी सफर पैदल ही करना पड़ता था। मैं नल बाजार में रहता था जो कि एक गरीब इलाका था। मेरा स्कूल गिरगाँव में था। मैं वहां पैदल जाता था।

मैं शहर की भव्यता से बेहद प्रभावित था। भारत के अलग-अलग क्षेत्रों के, अपनी-अपनी बोली में बातें करते लोग सब एक साथ थे - पारसी, मारवाड़ी, गुजराती, बंगाली, पंजाबी, ईसाई और अंग्रेज - सब का प्रतिनिधित्व था। इस शहर का एक अपना अनूठा चरित्र, अपनी गति, एक मनोवेग और उद्यम था। यह शहर किसी को भी आकर्षित कर सकता था।

परेल के परे कोई बम्बई न था। थे तो बस पेड़, नारियल के पेड़ और पारसियों और गुजरातियों के कुछ मकान। अमीर लोग कम्बाला हिल और हैंगिंग गार्डन में रहते थे। मजदूर लोग लालबाग - परेल में रहते थे। तब परेल की हवा इतनी दम घोटू नहीं होती थी। इसलिए मिलों के मैनेजर भी परेल में रहते थे। बैंक में नौकरी करने के दौरान मैं मजदूर संघ में सक्रिय हो गया था। मैं घर अक्सर देर से लौटता। उन दिनों दादर स्टेशन के बाहर अन्धेरा रहता था। रोशनी का इन्तजाम न था। अगर कुछ था तो नारियल के पेड़। बस। अगर जरा सा भी ध्यान पलटा आप पेड़ से टकरा सकते थे। एक बार बारिश हो रही थी तो मैं चर्चेट से दादर तक पैदल गया था।

जब मैं दादर पहुंचा तो सुबह के चार बजे थे। मैंने देखा कि मेरी माँ प्लेटफार्म पर लालटेन लिए मेरी राह देख रही थी।

★ एस.एस.मिरजकर : प्रमुख यूनियन नेता जो बाद में शहर के महापौर बने। वे 13 साल की उम्र में अपनी विधवा माँ के साथ 1914 में बम्बई आये थे। (1)

कारखाने और प्रवसन

व्यापारिक और औद्योगिक बम्बई की आर्थिक नींव कच्चे कपास व्यापार और कपड़ा उद्योग ने ही रखी। 19वीं सदी के मध्य से बम्बई का कपड़ा उद्योग स्थापित हुआ था और उसके बाद खूब फला-फूला। शहर का पहला भारतीय सूत कारखाना ताडदेव में 1851 में बॉम्बे स्पिनिंग मिल्स के नाम से स्थापित हुआ था। इसे एक पारसी उद्यमी (3). कावसजी नानाभाई दावर ने बनाया था। इसके निर्माण में एक ब्रितानी कम्पनी प्लाट्टब्रदर्स ने सहयोग दिया था। यह कम्पनी ओल्डहैम की थी। वित्तीय सहयोग बम्बई शहर के पचास प्रमुख व्यापारियों ने भी दिया था। कारखाने का उद्घाटन जुलाई, 1854 में हुआ था और उत्पादन फरवरी, 1956 में शुरू हुआ था। इन्हीं लोगों के प्रबन्धन के तहत दूसरा कारखाना बॉम्बे श्रोस्टल मिल्स के नाम से शुरू हुआ था। 1857 में इसका नाम एलाइंस मिल्स रख दिया गया था। जो (1959 में कार्यरत) में शुरू हुआ था। इन कारखानों की सफलता के चलते एक अन्य पारसी मानेक जी एन.पेटिट ने 1858 में ओरिएन्टल मिल्स की स्थापना की थी। पहली दो मिलें सिर्फ सूत तैयार करती थीं। लेकिन मानेक जी की मिल और बहुत-सा मिश्रित सामान तैयार करने लगी थी। यह कारखाना भी सफल रहा। इसके बाद और पारसियों और समृद्ध सम्पन्न भाटिया जातियों ने ऐसे कारखाने खोले। 1862 तक चार कारखाने खुल चुके थे और छह और कारखाने निर्मित होने लगे थे।

अमरीका में हुए गृहयुद्ध से पहले ब्रिटेन भारत से सिर्फ 20% सूत आयात करता था। गृह युद्ध के कारण कोन्फेडरेट बन्दरगाह बन्द हो गये तो उसे भारत पर निर्भर होना पड़ा था। 1865 तक आते-आते अमरीका में गृह

युद्ध समाप्त हो गया था। तब तक बम्बई सूत के व्यापार से 80 मिलियन पाउंड स्टर्लिंग कमा चुका था। इस धन के कारण वित्तीय गरम बाजारी की स्थिति पैदा हो गई थी। शहर में उस वक्त बदनाम हुए 'शेयर मेनीया' की स्थिति पैदा हो गई थी। दो महीनों के बाद अमरीका का गृह युद्ध समाप्त हुआ तो बम्बई के औद्योगिक विकास और कपड़ा उद्योग पर बहुत बुरा असर पड़ा था। रातों-रात सूत की कीमतें गिर गईं शेयर बाजार तबाह हो गया और बहुत से लोग दिवालिए हो गए। 1870 के अन्त में स्थिति सामान्य हुई और कारखाना उद्योग दोबारा जीवित होने लगा था। 1969 में उभरते हुए उद्योगपति जमशेदजी टाटा ने एलेक्जेंड्रॉ मिल स्थापित की। उसके बाद टाटा ने सेन्ट्रल इंडिया स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी स्थापित की। 1886 में स्वदेशी मिल्स स्थापित की गई थी। 1951 में उनके गुजर जाने के बाद उनके परिवार ने टाटा मिल्स शुरू की थी। 1870 में मोरारजी गोकुलदास ने अपनी पहली मिल स्थापित की थी। उन्होंने इसके बाद कई कारखाने स्थापित किए थे। 1873 में ठाकरसी से मूलजी हिन्दोस्तान स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स और 1874 में डेविड सैसून एण्ड कंपनी ने सैसून स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स स्थापित की थी। 1875 में खटाऊ माकनजी स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स स्थापित की गई। उद्योग का तेजी से विकास होने लगा। अगले दस सालों में 21 नई मिलें स्थापित की गई थीं।

महाराष्ट्र के गरीब जिलों के सस्ते में उपलब्ध श्रमिकों को शहर में रोजी-रोटी मिल गई। मिल मालिकों ने पिछड़े इलाकों में, कोंकण के गाँवों में और बाद में सातारा और शोलापुर में अपने ठेकेदारों और निरीक्षकों को भेजा। 1865 में दस मिलों में 6,600 से कम श्रमिक थे। उस समय बम्बई की जनसंख्या थी कुल 8,00,000। 1892 में 1,00,000 कारीगर मिलों में कार्यरत थे। इसमें से 20,000 महिला (4). श्रमिक थीं। बेशक 1908 और 1911 के दौरान मिल मालिक श्रमिकों की कमी की शिकायत करते थे। लेकिन

इतिहासकार इसे मिथ्या बताते हैं। शायद उपलब्ध श्रमिकों के काम-व्यवहार से वे सन्तुष्ट न थे। मालिकों की पसन्द के मुताबिक श्रमिक आज्ञाकारी और 'अच्छे' श्रमिक न थे। 1896 में बम्बई प्लैने से ग्रस्त हुआ था। उस वक्त जरूर कारीगरों की कमी हुई थी। इसके अलावा ऐसे हालात कभी नहीं हुए कि श्रमिक न मिले हों।

बम्बई की कपड़ा मिलों में सबसे पहले आनेवाले श्रमिक कोंकण से थे। बम्बई इसी का एक हिस्सा है। सह्याद्रि पहाड़ियों और अरब सागर के बीचोंबीच कोंकण स्थित है। बेशक यहाँ की जमीन बहुत उपजाऊ है परं जमीन की सिंचाई नहीं हो पाती। इसलिए यह जगह अनुत्पादक है। चूंकि यह जगह बम्बई के नजदीक है और यहाँ कश्ती से पहुंचा जा सकता है इसलिए लोगों को मिलों में काम करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। बेशक उन्हें बम्बई लाने के लिए प्रोत्साहित करना पड़ा था क्योंकि बम्बई एक बीमार और अरुचिकर शहर माना जाता था। उनके रहने के लिए बैरके बनाई गई थीं। इनको नाम दिया गया था चॉल। ठेकेदारों ने उन्हें नियमित वेतन अदायगी का लालच दिया था। श्रमिकों के परिवार गाँव में ही रहते थे। वे शहर से आने वाले मनी आर्डर का इन्तजार करते थे। इस तरह कोंकण के गाँवों में 'मनीआर्डर अर्थव्यवस्था' स्थापित हो गई थी।

1830 में घाटों में से गुजरता हुआ पहला मुख्य सड़क मार्ग - भोर घाट - खुला। 1853 में बम्बई और थाने के बीच देश की पहली रेल्वे लाइन खुली। 1854 के बाद रेल्वे लाइन का विस्तार हुआ जिसके फलस्वरूप शहर का शेष देश से सम्पर्क स्थापित हुआ। इस तरह व्यापार और संचार और यातायात साधन स्थापित हो गए। सह्याद्रि पर्वत शृंखला, जो पश्चिमी महाराष्ट्र के नाम से जानी जाती है (इसमें पुणे, सांगली, सातारा और कोल्हापुर जिले आते हैं) के लोग भी बम्बई आकर रहने लगे। घाटों की जमीन यद्यपि उर्वर थी परं वहाँ के छोटे-छोटे खेतों के उत्पाद बढ़ते हुए परिवारों के लिए काफी नहीं थे। बम्बई अवसर और धन दोनों ही दे रहा था।

जीवन और काम

कपड़ा उद्योग में काम कर रहे लोगों के काम और रहने के हालात शोचनीय थे। श्रमिकों की औसत उम्र 17 वर्ष थी और बामुश्किल 45 साल तक ही वे बच पाते थे। बाल मजदूरी (13 साल से कम) गैर-कानूनी थी और इसे किसी तरह का प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। 1892 (5) बाल मजदूरी की सबसे बड़ी संख्या कुल कपड़ा मिल मजदूरों से 5.6% थी। भेटवार्ता करने वाले वरिष्ठ लोगों के मुताबिक अनेक परिवार अपने लड़कों को 10 या 12 साल की उम्र में भेजते थे। ऐसा वह तब करते थे, जब लड़के देखने में उम्र में बड़े लगते थे।

प्रबन्धक अपनी मर्जी से वेतन कम कर देते था देर से देते थे। अगर काम सही नहीं हो रहा होता तो श्रमिक को जुर्माना लगा दिया जाता था और जुर्माना काफी ज्यादा होता था। 1870 और 1880 की शुरुवात में यह जुर्माना दो-चार आने होता था। यह राशि आधे या पूरे एक दिन का वेतन होता था। सब से ज्यादा जुर्माना 'खराब काम' के लिए होता था। इसका मतलब होता था कि जिसने खराब काम किया है वह उस कपड़े को खरीदेगा और पैसे उसके वेतन में से काट लिए जाएंगे। 1892 में एक मिल ने रिपोर्ट दी थी कि जुर्माना कुल वेतन का लगभग एक प्रतिशत बनता है (6)।

श्रमिक, जॉबर (ठेकेदार) को पैसे देते थे ताकि उनके बेटों को मिलों में काम मिल जाए। अब यह सब बदल गया है। उन दिनों मिल में काम करने वालों को क्लर्कों से ज्यादा वेतन मिलता था। लेकिन अब उनकी हालत खराब है। पहले शैक्षिक योग्यता की शर्त न थी। मिल में काम करने वाला एक श्रमिक अपने पर निर्भर दस लोगों को पाल-पोस सकता था। मिल का श्रमिक शारीरिक और मानसिक स्तर पर अपने गाँव से जुड़ा होता था। फसल बोने और काटने वह अपने घर जाता था। कोंकणी व्यक्ति चावल और घाट का व्यक्ति गन्ने की फसल काटने जाता था। इसे मिल मालिकों से मान्यता प्राप्त थी और श्रमिक को इसके लिए छुट्टी मिलती थी।

1954 में मासिक वेतन लगभग 66 रुपए और छह

आने होता था। (30 रुपए मूल वेतन और 36 रुपए छह आने दैनिक भत्ता होता था।) मुझे पहले -पहल यही वेतन मिला था। मुझे भोजनालय को 17 रुपए देने होते थे। कोंकणी को मछली खानी होती है, सो भोजनालय में सप्ताह में दो बार मछली मिलती थी। एक दिन मीट मिलता था। एक पैसे में इतनी भाजी मिलती थी कि एक आदमी उसे खत्म नहीं कर सकता था। 1954 में मैं हिन्दोस्तान मिल्स में काम करता था। 50 के दशक में मिलों में दो पालियों में काम होता था। एक पाली 12 घण्टों की होती थी। लाल वावटा यूनियन (वामपंथी) बहुत शक्तिशाली था। डांगे ने हड्डताल की घोषणा कर दी थी। यह जानकारी चन्द मिनटों में सब कारखानों में पहुंच गई थी। इस तरह का आपसी तालमेल आज भी मिलों में बना हुआ है।

★ वसन्त पारकर (लगभग 52 वर्ष) भूतपूर्व मिल में मजदूर चिचपोकली गणेशोत्सव मंडल पुस्तकालय चलाता है। (यह दुकान चिचपोकली पुल के नीचे है। स्थानीय निवासी देर शाम को इस जगह मिल बैठते हैं।)

काम करने के घण्टे लम्बे थे। न तो घर में और न ही कारखाने में घड़ियां होती थीं। 1890 में दी गई कारखाना आयोग की रिपोर्ट के अनुसार नगर निगम ने भाष से चलने वाले भोंपू पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। इसी कारण बहुत से श्रमिक कारखाने के गेट के पास सो जाते थे या फिर सुबह नींद खुलते ही गेट पर पहुंच जाते थे। ऐसा लगता है कि शुरू में कारखाने सिर्फ 8-10 घण्टे ही काम करते थे। 1858 में ओरिएंट मिल्स ने भोर से सूरज झूबने तक काम करवाना शुरू किया तो दूसरे कारखानों ने भी ऐसा ही किया। आम तौर पर कोई एक कारखाना गर्मियों में 13-14 घण्टे और सर्दियों में 10-12 घण्टे काम करता था। एक मिल मालिक ने आयोग को बयान दिया था कि श्रमिक मशीन पर खड़े-खड़े ही खाना खाते हैं। जब मशीन की गति धीमी पड़ने लगती तब श्रमिक समझ जाते कि बाहर अन्धेरा हो गया है।

कताई विभाग में गर्मी और नमी बनाए रखने के लिए गरम भाष को पंप किया जाता था। इस तरह उत्पन्न गरमी और नमी को धागे के लिए लाभदायक तापमान 90-100 डिग्री सेलसीयस पर रखा जाता था। श्रमिक जो बिन बाहोंवाली बनियान और खाकी निकर पहनते ओर वही उनकी वर्दी बन गई थी। बुनाई शेड में चल रहे करघों के शोर से बुनकरों के सुनने की क्षमता कम होती रहती थी। रुई से उड़नेवाले रेशों से सांस लेने में काफी तकलीफ बढ़ जाती। इसमें मुख्य थी बायसिनोसिस की तकलीफ। शौचालय अगर थे भी तो बहुत दूरी पर। काम करने के हालात, यानी गर्मी, गर्द, मिट्टी, शोर, और रोशनदान आदि हवागिरी की गैर-मौजूदगी के कारण श्रमिकों को समय-समय पर छुट्टी लेनी पड़ती थी। हर मिल में नाई, नहाने के लिए पानी उपलब्ध रहता। बेशक खाना घर से आता या भोजनालय से लिया जाता पर उन्हें चाय मिलती थी।

जॉबर (ठेकेदार) हालांकि मालिकों के प्रतिनिधि होते थे, पर श्रमिकों से उनका सम्पर्क हर दिन बना रहता था। जॉबर फोरमेन का भी काम करता था। वही कारखाने के नियम आदि तय करता था। भरती, उधारी जैसे कई काम वही करता था।

पहले वर्कों में हर कोई कारखानों में काम करता था। क्योंकि कारखानों में काम तीन पालियों में होता था तो हम बहुत से लोगों को नौकरी दे सकते थे। जब एक पाली के लोग काम पर आ जाते तो पहली पाली वाले सोने चले जाते थे। आज जब बहुत से कारखाने बन्द हो गए हैं तो ज्यादातर लोग दिन में काम करते हैं। यहां बहुत से नियम है - शराब और सिगरेट पीना मना है। सबको नौ बजे से पहले लौटना पड़ता है और उसके बाद रोशनी जलाना मना होता है। पहली पाली में काम करने वाले सुबह 5 बजे जागते हैं। ज्ञानेश्वरी 12 का पाठ साढ़े पांच बजे से छह बजे तक होता है। उसके बाद सब काम पर चले जाते हैं। दूसरी पाली के श्रमिक सात बजे उठते हैं, ग्यारह बजे खाना खाते हैं, और दोपहर को सोते हैं। वे दो

बजे काम पर जाते हैं। तीसरी पालीवाले सुबह घर आते हैं। दस बजे खाना खाकर शाम 5 बजे तक सोते हैं। भजन-पाठ कर के वे रात 11 बजे वे काम पर चले जाते हैं। ऐसा नहीं कि यह एक नियम है लेकिन सब लोग अनुशासन में रहते हैं। अगर वे ऐसा नहीं करेंगे तो उनके लिए काम करना मुश्किल होगा। ऐसा भी नहीं है कि अगर कोई देर से सोना चाहता है तो वह ऐसा कर नहीं सकता है। पर वे ऐसा करते नहीं हैं।

एक कमरे में 20 से 30 लोग रहते हैं। वे कैसे सब इन्तजाम करते हैं? यह इसलिए सम्भव हो पाता है क्योंकि वहाँ तीन पालियों में काम होता है। जब कारखाना बन्द होता है या फिर कोई छुट्टी का दिन आ जाता है तब दिक्कत होती है। ऐसी हालत में लोग बाहर चटाईयों पर सोते हैं। सबके पास अपना -अपना सामान होता है। सबसे ज्यादा दिक्कत हमें तब महसूस हुई थी जब हड़ताल हुई थी। ऊपर से सब के सब बेरोजगार थे।

ऐसे में अगर हम उन्हें मुफ्त में रहने देते हैं तो भी उन्हें खाने के पैसे तो देने ही पड़ते हैं। इसलिए वे कहीं न कहीं रोजगार ढूँढ़ते हैं और वे कर भी क्या सकते हैं? उनका कोई दूसरा सहारा तो होता नहीं। अगर वे दो महीने तक 25 रुपए किराया अदा नहीं कर पाते तो उन्हें कहीं और जाकर रहना पड़ेगा। आखिर यहां के रखरखाव, पूजा-पाठ, जत्राओं, अनुष्ठानों के लिए खर्चा तो होता ही है।

जब कोई सेवानिवृत्त होता है तो हम उसे बिदाई देते हैं। या तो वे अपने घर गाँव लौट जाते हैं या अपने परिवार को बुला कर कहीं रहने लगते हैं। जो भी हो वे पूजा के लिए आते हैं। हम भी उन्हें निमंत्रण भेजते हैं। 1982 की हड़ताल के बाद हालात बदल गए हैं। अब कम कार्यक्रम होते हैं। टेलिविजन के कारण भी हालात बदले हैं।

★ शिवाजी दिवटे (55 वर्ष) एक दर्जी है। साथ ही पिंपलगाव गावकरी मंडल में भी कार्यरत है। शिवाजी एक भजन मंडल का संचालन करता है। गणेशोत्सव और अन्य त्यौहारों में अपनी पत्नी और मित्रों के सहयोग से सक्रिय रहता है।

उस समय शिकायतें दूर करने का कोई जरिया न था। समय-समय पर भारत और ब्रिटेन के कुछ समाज सुधारकों ने कोशिश की तो मजदूरों के लिए कुछ सुधार किए गए थे। मिलों में काम करने वालों की समस्याओं से जुड़े एक प्रमुख समाज सुधारक थे एन.एम.लोखंडे 1884 में भारतीय इतिहास में लोखंडे के प्रयासों से पहली बार इस क्षेत्र में सुधार किए गए थे। वे प्रसिद्ध समाज सुधारक ज्योतिबा फुले 7 के अनुयायी थे। फुले के नेतृत्व में संचालित सत्यशोधक आन्दोलन में वे एक भागीदार थे। बहुत लोग मानते हैं कि वामपंथियों के सक्रिय होने से बहुत पहले सामाजिक पक्षपात के विरुद्ध आवाज उठाने वाला यही आन्दोलन था।

लोखंडे ने ब्रिटिश सरकार के सामने मांग रखकर इन श्रमिकों को निश्चित धन्टों तक काम करने और सप्ताह में एक छुट्टी की सुविधा दिलवाई थी। लेकिन बदलाव और सुधार का मुख्य कारण था श्रमिकों की सामूहिक शक्ति। ऐसा तब संभव हो पाया जब उन्होंने खुद संगठित हो कर संघर्ष किया। उन्होंने यह कैसे किया? इसका वर्णन अगले अध्याय में दिया गया है।

समुदाय, परिवार और संस्थाएं

जब से मिलें बनीं और मिल मालिकों और नगर आयोजकों ने श्रमिकों को सस्ते में रहने के लिए जगहें दीं तब से गिरणगांव में 30% से 40% आबादी एक कमरे की चॉल में रहती थी। एक-एक कमरेवाली चॉल में छह-छह लोग रहते थे। यह स्थिति आज तक बनी हुई है। बहुत से श्रमिक तो झोपड़ियों में रहते थे और कई तो सड़कों या गलियारों में ही रहते सोते थे। 1911 की जनगणना के मुताबिक बम्बई में 69% लोग एक कमरे में या बैरकों 10 में रहने को मजबूर थे। ये चॉलें दो या तीन मंजिलों की होती हैं। इनमें लम्बे गलियारे होते हैं। जिनके आखिरी छोर पर साझा शौचालय होता है। ज्यादातर श्रमिक उन मिलों के आस-पास रहते हैं जहां वे काम करते हैं। पड़ोस और सामाजिक जीवन का एक हिस्सा सड़कें भी होती हैं। 11 चॉल के आस पास के गलियारे और खुले स्थान

परिवार के लिए उनके जीवन का एक हिस्सा होते हैं। दरअसल पूरा समुदाय ही इन स्थानों का इस्तेमाल करता है। अधिकांश कारीगरों के परिवार अपने-अपने गांव में ही रहते हैं। इस तरह समुदाय और संस्थाएं उस कमी को पूरा करती हैं।

आम तौर पर ज्यादातर श्रमिक एक ही गांव, एक ही जाति और अक्सर एक ही परिवार के होते हैं। इसलिए वे पहले से ही एक दूसरे से जुड़े रहते हैं।

10 × 12 फुट की एक ही चॉल-जिसे गाला या 'झिलग्याची खोली' कहते हैं - में 13 से 14 लोग रहते हैं। ये लोग वहां सिर्फ़ सोते हैं। साझे शौचालय बाहर होते हैं, घर का बना खाना एक मासिक राशि अदा करके 'खानावल' (भोजनालय) से मिल जाता है। खानावल का संचालन सिर्फ़ महिलाएं करती हैं। यह जगह एक मिलन स्थल भी हो जाती है। खानावल चलानेवाली महिलाएं खाना अपने-अपने घरों में पकातीं और वहीं खिलातीं हैं। वे श्रमिकों की मित्र, विश्वासात्र होती हैं और इधर-उधर की खबरें भी देती हैं।

घरवालों की गैर-मौजूदगी के चलते 'गांवकरी मंडल' बन गए। यहीं पर पारिवारिक समर्थन और रिश्ते बनते हैं। अपने गांव के साथ श्रमिकों का सम्पर्क सम्बन्ध इसलिए बना रहता है क्योंकि उनको शहर से पैसे भेजे जाते हैं। इसी बजह से यह लोग अपने गांव के सामाजिक और राजनैतिक जीवन को प्रभावित करते हैं। मुख्य धार्मिक अनुष्ठानों, स्थानीय सांस्कृतिक समारोहों और मेलों के दौरान गांव जीवन्त हो उठते हैं। बम्बई से जब ये लोग - इन्हे 'चकरमाने' कहते हैं - गांव आते हैं तब अमीरी-गरीबी की सीमाएं लांघ कर सब एकजुट हो जाते हैं। पहले-पहल इसी एकजुटता और मिलन-मिलाने के चलते ये लोग शहर में इनके साथ हो रही बेइन्साफी को सह जाते थे। यह स्थिति 19वीं सदी के अन्त तक चली। तब कपड़ा उद्योग का पहला दौर था। जैसे-जैसे समुदाय के शहर में पांच जमने लगे वैसे-वैसे वे अपने साथ हो रहे अन्याय के प्रति जागरूक होने लगे। तब मजदूर संघ नहीं गठित हुए थे। बस, मंडल और सांस्कृतिक संगठन ही एक महत्वपूर्ण

भूमिका निभाते थे। उनका काम था सिर्फ मनोरंजन करना। बेशक इसकी बहुत जरूरत थी और फिर यहां श्रमिकों को अपनी रचनात्मकता दिखाने का भी मौका मिलता था। हर चॉल की एक समिति होती थी। हर इलाके में उनकी अपनी व्यायामशाला, गणेशोत्सव, गांवकरी मंडल और भजन मंडल होते थे।

भजन मंडल विशेष महत्व रखते थे जिसमें सब मिलकर भक्ति गीत गाते थे। हर पंक्ति को सब मिल कर दोहराते। हर शब्द और भावना को जीवन्त रूप दिया जाता था। कारखानों में नाटक प्रतियोगिताओं की तरह भजन प्रतियोगिताएं आयोजित की जाती थीं। भक्त कवियों (16) जैसे ज्ञानेश्वर, तुकाराम, नामदेव और एकनाथ (17) के भजन गाये जाते थे। भजन गायकों में से बहुत से 700 साल पुराने वारकरी पंथ के अनुयायी हैं। वारकरी पंथ ने विशिष्ट और जातिवादी वैदिक परम्परा (18) से भिन्न मौखिक कविता और साहित्य को जीवित रखा है।

हम मूल रूप से कोल्हापुर (घाट) से हैं। मेरे पिता मफतलाल मिल में काम करते थे। मेरी माँ खानावल चलाती थी। वेतन बहुत कम था और एक वेतन पर गुजारा संभव न था - विशेष रूप से तब जब कोई अपने बच्चों की पढ़ाना चाहता हो। सो मेरी माँ ने कहा 'मैं घर में क्या करूँगी?' मैं खानावल खोल लेती हूँ। नजदीक रहने वाले लोग और कुछ रिश्तेदार खाना खाने आते। मैं तब तीसरी कक्षा में थी और माँ की मदद करती थी। मैं बर्तन, छोटे कपड़े धो देती अनाज साफ कर देती और बाजार से सामान ला देती थी। मैंने सातवीं तक पढ़ाई की। मेरी माँ अक्सर बीमार रहती थी। मैं स्कूल से एक बजे लौटकर 2.30 पर सिंगड़ी जलाती और माँ को जगाती। वह खाना पकाती। रात का खाना 7-8 बजे पकता था। सब लोग एक साथ नहीं आते थे। पालियों में काम करने वालों के डिब्बे शाम 5.30 पर कारखानों में पहुंचाने होते थे। अगर कोई दस बजे के बाद आता तो उसका खाना डिब्बे में रखा जाता था। मेरे पिताजी हिसाब-किताब रखते थे।

मैं 17 साल की थी तब मेरी शादी हो गई। मेरे पति बम्बई गैस में क्लर्क थे। मैंने खानावल खोल लिया। शुरू शुरू में सात-आठ लोग थे। धीरे-धीरे और लोग भी आने लगे। 1972-73 तक काफी ज्यादा लोग आते थे। मैं अब भी खानावल चलाती हूँ पर बहुत कम सदस्य हैं। पहले लगभग 300 खानावाल हुआ करते थे। अब इनकी संख्या लगभग 650 है। पहले तीन बार खाना परोसा जाता था।

बच्चे चपाती उलट-पुलट कर और कारखाने तक डिब्बे पहुंचाकर मदद करते थे।

जो खाना खाने आते थे वे अपनी समस्याओं के बारे में बात करते। कोई अपनी पत्नी की बीमारी और कोई अपने उस मकान की बात करता जो उसे बनाना था। जो मेरे यहां खाना खाने आते हैं वे छह-सात साल से आ रहे हैं। इस तरह वे परिवार के सदस्य बन गए हैं। गणपति जैसे त्योहारों पर कम लोग आते और हम विशेष मिठाइयां भी बनाते हैं। धर्मिक ब्रत के दिन मीट नहीं बनता है। शनिवार, मंगलवार और बृहस्पतिवार को भी मीट नहीं बनता है। पहले सब एक परिवार की तरह थे, अब सब बदल गया है।

1973 की हड़ताल के बाद गेहूँ की कमी हो गई थी इसलिए सुबह की चाय के साथ चपाती परोसनी बन्द कर दी गई। चपाती सिर्फ दोपहर के खाने के साथ दी जाती थी। एक श्रमिक औसतन चार-पांच चपातियां खाता थे। इसलिए मुझे कम से कम 60 चपातियां बनानी पड़तीं। अब लोग कम खाते हैं।

खानावल को कोई छुट्टी नहीं मिलती है। एकादशी के दिन हम मांटुगा स्थित पंढरीनाथ मंदिर जाते हैं। इसके अलावा मैंने बम्बई में जो स्थान देखे हैं वे अपने स्कूल द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में ही देखे हैं। उसके बाद हमने सेंट्रल बम्बई में सिर्फ चिड़ियाघर देखा है। वक्त ही नहीं मिलता।

अब सिर्फ दो-तीन लोग आते हैं। इनमें से दो मिल में और दूसरे दो कहीं और काम करते हैं। मेरे पति गुजर गए हैं।

यों मिलों में औरतें भी काम करती हैं पर वे खानावल में खाना नहीं खाती वे अपना खाना खुद पकाती हैं या उनकी बहुएं बनाती हैं।

★ मेरा बेटा बेस्ट (बम्बई बिजली और राज्य परिवहन) में काम करता है। दूसरा बेटा राज्य सरकार में अस्थाई कर्मचारी है।

इन्दु पाटिल (55 वर्ष) अपनी माँ की तरह इन्दु भी खानावल चलाती है। वह दादर के पास नायगांव में कोहिनूर मिल्स में काम करती है।

मेरी मौसी नायगांव में खानावल चलाती थी। बहुत से लोग वहां खाना खाते थे। इनमें भूमिगत क्रांतिकारी भी थे। खाना खाकर वे मुझसे गाना सुनते थे। हमें बहुत सावधान रहता पड़ता था। क्योंकि वे गुप्त स्थान में रहते थे। मैं उन्हें देशप्रेम और आजादी के गीत सुनाती थी। कुछ लोग नजदीक की व्यायामशाला के थे। वे सब मेरे ही गांव के थे। वे चॉल में रहते थे और उनकी पत्नियां - बच्चे गांव में थे। वे भी मुझे गीत सुनाने को कहते थे। मैं उन्हें यह गीत सुनाती :- 'सहयाद्रि पहाड़ों में एक सीधा-साधा गांव है कोल्हापुर - एक महीने पहले मेरे पति मुंबई चले गये थे। मैं रोज डाकखाने जा कर उनकी चिट्ठी का पूछती हूँ। लेकिन उनका खत नहीं आया है। मेरा बच्चा उन्हें याद कर-कर के रोता है। मैं उसे क्या समझाऊँ? मैं हर पल उनके ही बारे में सोचती हूँ। वे कैसे हैं? वे क्या खाते हैं? वे कहां सोते हैं?' यह गीत सुनकर वे पुलकित हो जाते और मुझे बारबार यही गीत गाने को कहते। गीत सुनकर वे अपनों की यादों में खो जाते।

निवृत्ति पवार (65 वर्ष) मराठी लोकगीतों की एक लोकप्रिय गायिका हैं। आप अनेक राजनैतिक आन्दोलनों से जुड़ी हैं।

मैं पिपलगांव (सतारा जिला) से नौकरी की तलाश में बम्बई आया था। औरों की तरह मैं ज्यादा पढ़ा-लिखा न था। मेरी पढ़ाई सिर्फ छठी या सातवीं तक हुई थी। जब हम यहां

आए तो हमारा कोई रिश्तेदार बम्बई में न था। हाँ, हमें मालूम था कि यहां एक पिपलगांव गांव मंडल है। हमारे गांव के दस-पन्द्रह लोगों ने यह मंडल गठित किया था। जब मैं यहां आया तो मैंने एक होटल में सन्तोष डेयरी में 15 रुपए प्रति माह पर नौकरी कर ली थी। मैंने वहां दो-तीन साल नौकरी की। उसके बाद सयाजी मिल्स (जो कि मोरारजी मिल्स नम्बर 2 का ही हिस्सा थी) में एप्रेंटिस के रूप में काम करने का पास मिल गया था। तीन महीने के प्रशिक्षण के बाद मैंने 1971 से 1972 तक काम किया। उसके बाद मैंने हिन्दोस्तन मिल्स में नौकरी कर ली जो कि आज तक जारी है।

चूंकि अपने बलबूते पर किराए पर कमरा लेना सम्भव न था इसलिए मंडल स्थापित किया गया था। हर एक अपनी क्षमता के मुताबिक किराया देता था। एक कमरा लालबाग और एक-एक कमरा प्रभादेवी की बाकड़ी चाल और चिंचपोकली की में गणेश सिनेमा के नजदीक था। उन दिनों आप 4000 से 7000 रुपयों में कमरा खरीद सकते थे।

मंडल, स्वतंत्रता दिवस और गणतंत्र दिवस जैसे समारोहों का आयोजन करता। हम लोग इतिहास, अपनी समस्याएं जैसे अनेक विषयों पर बातचीत करते। हमारे मंडल के 10-12 सदस्य थे। कार्यकर्ताओं को चुनाव द्वारा नियुक्त किया जाता था। खर्चों की साझेदारी 165 रुपए से बढ़ा कर 200 रुपए कर दी गई थी। अब सदस्य बनने के लिए कम से कम 4000.00 रुपए देने होते हैं। कमरे का किराया, दूसरे खर्चे और मंडल की गतिविधियों के लिए अलग धन अदायगी होती है।

जो लोग चॉल में रहते थे वे सिर्फ वहां सोते थे। भोजन खानावल में खाया जाता। पहले यहां सिर्फ मिलों में काम करनेवाले रहते थे। अब चूंकि मिलें बन्द हो रही हैं इसलिए यहां दूसरे लोग भी रहने लगे हैं। हमारे पास छह खोलियां हैं, एक-एक खोली में 25-30 लोग रहते हैं। इन चॉलों में सिर्फ हमारे गांव के लोग रह सकते हैं। यहां हर जाति का व्यक्ति है।

हमारे यहां भजन मंडल है। हमारे यहां नियमित रूप से लेजिम नृत्य का आयोजन होता है। यह एक कसरती नृत्य है। इसके साथ छोटे-छोटे मंजीरे, करताल, एक लकड़ी पर बांध कर बजाए जाते हैं। एक सामरिक खेल होता था 'संग्राम'। एक भजन प्रतिस्पर्धा भी होती थी नाम था - 'बार'। इसमें भजन के माध्यम से सवाल - जवाब किए जाते। विषय रहता एक दूसरे के बारे में बुरी- बुरी बातें। हमारे मंडल को इस विधा में महारत हासिल थी। हमारे मंडल में शास्त्रीय संगीत के भी गायक थे। वे रेडियो पर भी प्रोग्राम देते थे। हमारे यहां लोग भजन, भारुड (13) और सोंगी (भजन आधारित प्रस्तुति) पेश करते अपने यहां ढोलक बादक और हारमोनियम वाले भी थे। (14) ज्यादातर प्रोग्राम इतवार के दिन आयोजित होते थे क्योंकि उस दिन सबको छुट्टी होती थी। अब वे लोग मंडल की खोली में नहीं रहते हैं।

हमारे मंडल ने गांव के लिए भी बहुत काम किया। हमारे मंडल ने गांव में बिजली, पानी का इन्तजाम किया। एक देवी की मूर्ति की स्थापना भी की। हमने वहां दो मंदिर भी बनवाए। गांव में हर तीन साल बाद हम लक्ष्मी यात्रा का आयोजन करते थे इसमें भाग लेने हम सब अपने गांव जाते। हम लोग छह दिन की छुट्टी लेकर एक बस में गांव जाते। हम छह दिनों तक लोक नाट्य कुश्ती, बैलों की लड़ाई और आजकल तो क्रिकेट के कार्यक्रम आयोजित करते हैं। हमने एक ऋण सहकारी समिति बना रखी है जिसे चलाने के लिए कुछ लोग नियुक्त किए जाते हैं। वैसे हम सब कहीं न कहीं नौकरी करते हैं। सिर्फ मंडल के लिए कोई भी नौकरी नहीं करता है। जब भी किसी पर कोई संकट आता है तो मंडल मदद करता है। अगर किसी के गांव के घर में कोई गमी हो जाती है तो सब लोग उसके गांव जाने का इंतजाम तुरंत करते हैं और वित्तीय सहायता भी करते हैं।

हमारे क्षेत्र के ज्यादातर लोग कर्ताई विभाग में काम करते हैं। जॉबर (ठेकेदार) गांव से युवाओं को भर्ती करते हैं।

जल्दी ही उनकी नौकरियां पक्की हो जाती हैं। गांव के लोग भी श्रमिकों को सहयोग देते हैं।

मेरी पत्नी और बच्चे गांव में रहते हैं। मैं उन्हें शहर लाया था। वे दो साल तक यहां रहे भी पर हमारा गुजारा नहीं होता था। मेरे गांव में मेरी जमीन है। लेकिन सिर्फ किसानी से पूरी नहीं पड़ती। अगर गुजारा हो जाता तो मैं शहर क्यों आता? फसल कटाई के बाद गांव में आज भी येहप्रतियोगिताएं करवाई जाती हैं। हम सब रिश्तेदारों और गांववालों से मिलते हैं। परिवार बड़े होते जा रहे हैं। फसल से घर चलता नहीं इसलिए हर घर से एक बेटा बम्बई में नौकरी करता है। दूसरा सेना में और तीसरा कहीं और नौकरी करता है।

★ मासूरी ज्ञानदेव सतकार (लगभग 50 वर्ष) पिम्पलगांव गांवकर मंडल (लोअरपरेल क्षेत्र में स्थित) गिरणगांव में सक्रिय कार्यकर्ता।

मिलों में कार्यरत महिलाएं

बम्बई में आकर बसने वाले ज्यादातर पुरुष ही थे। 1864 में बम्बई में हर 1,000 पुरुषों के पीछे सिर्फ 529 महिलाएं रहती थीं। 1921 में यह संख्या 525 रही। 1870 के अकाल और 1880 में सूत के कारखानों में बढ़ोतरी के फलस्वरूप कामकाजी महिलाओं की संख्या में नाटकीय बढ़ोतरी हुई थी। 1879 में बम्बई की दस मिलों में 8,553 महिलाएं काम कर रही थीं। 1881 में 32 मिलों में 31,351 महिलाएं काम कर रही थीं। 1896 तक 71 मिलों में 78,455 (19) महिलाएं काम कर रही थीं। 1891 में पारित कारखाना कानून के तहत औरतों और बच्चों के काम करने के समय पर नियंत्रण लग गया था। शुरू-शुरू में महिलाओं की संख्या कम हो गई थी। 1931 तक कुल कार्यकर्ताओं में महिलाओं की संख्या 20-25 प्रतिशत थी। इसके बाद रात की पाली (औरतें रात को काम नहीं कर सकती थीं) शुरू हुई थी। महिलाओं को प्रसूति लाभ भी मिलने लगे थे। इसलिए महिलाओं की संख्या कम हो गई थी। 1884 में कुल कारीगर 39,716 थे तो औरतों

की संख्या 8,816 थी। 1934 में यह संख्या क्रमशः 24,319 और 128,420 थी। (20)

एक ऐसी महिला के (जो इन सब के बाद जन्मी) से भेट से उन दिनों के कपड़ा कारखाने के कारीगर के जीवन के बारे में जानकारी मिलती है।

ये लोग अपना घर-गांव छोड़ कर बम्बई में आ बसे थे। जिससे कई गैर-पारम्परिक रिश्ते बने। महिला संगी की जरूरत का सामना करना पड़ा। अनेक पुरुष विवाहित होते हुए भी बम्बई में किसी दूसरी औरत के साथ रहते थे। अपने गांव, वे साल में दो - तीन बार जाते थे। वेश्याओं में भी एक सहारा ढूँढ़ा जाता था। बेशक इसके बारे में हमसे कोई बात करने वाला नहीं मिला। न ही हमें इसकी कोई जानकारी मिल पाई कि गांव में रहनेवाली पत्नियां अपने अकेलेपन को कैसे झेलती थीं।

मेरा जन्म पुणे के एक गांव में हुआ था। मेरे पिता जी के देहान्त के बाद हम अपने चाचा के घर रहने चले गए - मैं, मेरी माँ, बहन और भाई।

मैंने पढ़ाई नहीं की। मेरी भाभी के साथ मेरी माँ की बनती नहीं थी। मेरी माँ ने बम्बई में एक मिल में नौकरी कर ली। हम किसी के घर में रहते थे।

मेरी शादी बारह साल की उम्र में हो गई थी। पर बड़ी होने तक मैं माँ के घर में ही रही थी। मेरा सुसुराल वरली कोलीवाड़ा में था। कोलियों के इस गांव में मछेरे रहते थे। मेरी ननद शिकायत करती रहती कि मैं कुछ काम-धाम नहीं करती हूँ। मैं मां के घर लौट आई। मेरी माँ ने मिल की मुकादम एक औरत से कहा कि वह मुझे नौकरी दिलवा दे। वह औरत मुझे सूत लाकर देती। मैंने उससे धागा बनाना सीख लिया तब उसने मुझे नौकरी दे दी। यह वही मिल थी जहां मेरी माँ काम करती थी। काम पर माँ कभी मुझसे बात नहीं करती थी। वह मानती थी 'हम घर पर बात कर सकती हैं। यहां क्या बात करनी है। यहां हम काम करने आई हैं।' वह सूत तोल कर हमें देते और हम उसका धागा बना कर

लौटा देते। मुकादम हम सब पर नजर रखती, वह सुनिश्चित करती कि मशीनें चल रही हैं और सब काम ठीक-ठाक हो रहा है। मालिक एक बार सुबह और फिर शाम को आते। नाइकिन एक मुकादम का काम करती है। वहां काम करने वाली सभी औरतें थीं। हम अपनी साड़ियों को मशीन में फंसने से बचाने के लिए एपरन पहन कर काम करतीं।

फिर मैं अपने सुसुराल लौट गई। मेरा पति मुझे लिवाने आया था। यह वह समय था जब गांधी जी की हत्या हुई थी। मैं सुबह साढ़े पाँच बजे ट्राम में बैठकर काम पर जाती और शाम को घर लौटती। पाली सात से पांच बजे तक होती थी। चूंकि मेरी नौकरी पक्की न थी इसलिए मुझे हर रोज काम नहीं मिलता था। मैं थक गई थी। ऐसा बरताव लड़कों के साथ नहीं होता था। महिलाओं को वे प्रसव - लाभ देने से बचना चाहते थे। मैंने मिल में पांच साल तक नौकरी की फिर मैंने काम करना छोड़ दिया।

मेरा पति मध्यसूदन मिल में काम करता था। जब मेरा पहला बच्चा पैदा हुआ तब हम कोलीवाड़ा वरली में अलग रहने लगे थे। मैंने पांच बच्चों को जन्म दिया। दो की मृत्यु हो गई। मेरा पति शराबी और जुआरी था, वह मुझे नियमित तौर से खर्चा नहीं देता था। हालांकि वह हमें मारता पीटा नहीं था पर पैसों की तंगी तो रहती ही। मैंने खानावल शुरू कर दिया। मेरे यहां आने वाले लोग घाट से ही थे। मेरा बेटा डिब्बों में खाना क्रॉफोर्ड मार्किट पहुंचाता था।

कुछ सालों बाद मैंने मछली बेचनी शुरू कर दी। फिर मैंने घरों में भी काम किया।

मैं अपने बच्चों को पढ़ा नहीं सकी थी। हालांकि टीचर ने घर आकर मुझे कहा था कि मैं बेटी की पढ़ाई बन्द न करूँ। पर मैं क्या करती? मेरे पास इतने पैसे न थे। मेरा पति वेतन मिलने के बाद एक सप्ताह तक घर नहीं आता था। एक बेटा होटल में नौकरी करता था। दूसरा एक दुकान में। मेरी बेटी मेरी मदद घरेलू कामों में करती थी। उसे संगीत पसन्द था। बाद में उसका बेटा संगीतज्ञ बन गया था।

मुझे कोई गेट मीटिंग याद नहीं है। मेरी माँ सेवानिवृत्त हो कर गांव लौट गई थी। नौकरी के दौरान बचाए पैसों से उसने गांव में घर बना लिया था।

वामपंथी दल की कायकर्त्ता प्रेमा पुरव ने 'अन्नपूर्णा' की शुरुआत की थी। उसने महिलाओं के लिए एक वैकल्पिक अवसर प्रदान किया। मैंने उनके साथ मिलकर काम करना शुरू किया था। शुरू में हमने बटाटे बड़े बनाए, ऊँची कीमतों को लेकर हमने आन्दोलन किए। परेल जा कर हमने ट्रैफिक रोका। प्रेमा पुरव और डांगे की बेटी रोजा देशपांडे -वामपंथी दल की कायकर्त्ता भी वहां थी। मैं प्रेमाताई के साथ रोजा से मिलने डांगे के घर गई थी। हम लोग राशन कार्ड पर सस्ते राशन की मांग करने गए थे। बहुत लोग थे। पुलिस हमें उठा कर आजाद मैदान ले गई और बाद में हमें छोड़ दिया गया था। हमने प्रेमाताई के घर से 'अन्नपूर्णा' की शुरुआत की थी। फिर हमें एक कमरा मिल गया। हम कई दफ्तरों और कंपनियों में खाना भेजते थे। मेरा बेटा अचानक दिल का दौरा पड़ने से गुजर गया था। मेरा दूसरा बेटा मिल में काम करता था। वह भी गुजर गया था। वह हड्डाल में सविय रहता था। उसे कैद कर लिया गया था और उसकी नौकरी चली गई थी। उसने कई जगह कच्ची नौकरी की थी। मेरी बहू भी मिल में काम करती थी।

मैं अब अन्नपूर्णा में एक निरीक्षक हूँ।

★ रुक्मिणी एनपुरे (लगभग 67 वर्ष) अन्नपूर्णा महिला मंडल में एक निरीक्षक।

मेरे पिता पढ़े- लिखे न थे। वह मिल में मुकादम थे। हम कोंकणी हैं। बाकी सब की तरह हम भी चॉल में रहते थे। डेलिस्ले रोड पर स्थित इस चॉल में बिजली न थी। बस मिट्टी के तेल की लालटेने थीं। हम खुले में एक नल के नीचे नहाते थे। मुझे तो यह भी नहीं पता कि मैं कहां, कब पैदा हुआ था। मेरे जन्म की तारीख स्कूल के अध्यापक ने तय की थी।

1943 में सैसून मिल्स की एक मिल यूनाइटेड मिल नं. 4 में बॉयलर फट गया था। अफवाह थी कि जापान ने

बम्बई पर बम फेंका है। हम सब सड़क से या कश्तियों में बैठ कर गांव भाग गए थे। बाकी समय मैं बम्बई में ही रहा।

मैं पढ़ना चाहता था। दो साल तक मैं कोंकण में कुडाल में पढ़ता रहा। जब मैं छठीं या सातवी में था तब गांव में दो महत्वपूर्ण आदमी थे। एक आर.एस.एस.(21) का दूसरा राष्ट्र सेवादल का सदस्य था। यह कांग्रेस और समाजवादियों की सांस्कृतिक और समाज सेवा संस्था थी। सौभाग्यवश मैं सेवादल से प्रभावित हुआ था।

हम बम्बई लौट आए। मैंने शिरोडकर स्कूल में रात्रि के समय पढ़ाई की। मेरी एक बहन है। मेरे पिता को शराब पीने की आदत थी। वे दस घंटे तक शाम 5 बजे से सुबह 5 बजे की पाली में काम करते थे। मेरे पिता ने तीस साल तक काम किया। उन्हें दमा जैसी बीमारी हो गई तो उन्हें काम छोड़ना पड़ा। मैंने दसवीं पास करने से पहले ही नौकरी कर ली। मुझे हिसाब -किताब क्लर्क की नौकरी बम्बई बन्दरगाह में मिल गई। फिर मैंने टेलिफोन एक्सचेंज में नौकरी की। मेरे पिता गांव लौट गए। उन्होंने कभी हमको तंग नहीं किया। हमारी जिन्दगी आरामदेह न थी। तब संस्कृति ही अलग थी। मेरे पिता सुबह तीन बजे लौट कर सोते। फिर बाजार से सामान लाते, शराब पीते, खाना खाते और काम पर जाने से पहले थोड़ा सो लेते। तब, जुआ खेलना और 'दूसरी' औरत रखना मान्य था। दूसरी औरत रखना पौरुष की निशानी मानी जाती थी। ये औरतें पूरे परिवार के प्रति वफादार होती थीं। वे परिवार का एक हिस्सा बन जाती थीं। उसकी शादी नहीं हुई होती थी पर उसकी अपनी महत्ता होती थी।

हाँ, मेरे पिता ने भी दूसरी 'औरत' रखी थी। वह विधवा थी। वह दूसरी जाति की थी। उसी ने मेरे पिता की शादी करवाई जब पहली पत्नी गुजर गई तो उसने मेरे पिता की दूसरी शादी करवाई। मैं और मेरी बहन दूसरी माँ से हैं। हम सब इकट्ठे गांव जाते। यह आम बात थी। मैं इस दूसरी औरत को ही 'माँ' मानता हूँ। जब मेरी अपनी माँ गुजर गई तब भी यह ही हर वक्त हमारे लिए सब कुछ थी।

★ भाई भोसले (75 वर्ष) मजदूर संघ का वरिष्ठ नेता। 1982 की हड्डताल तुड़वाने का मुख्य आरोपी। हड्डताल के बाद उसे संघ का पद छोड़ना पड़ा था। आर.एम.एस. का महासचिव रहा। बाद में मजगांव बम्बई से 1972 में महाराष्ट्र विधान मंडल का सदस्य। 1993 में नई दिल्ली में औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण आयोग का सदस्य।

गणेशोत्सव और अन्य कार्यक्रम

गिरणगांव में चॉल के जीवन का एक अद्भूत हिस्सा था सामुदायिक कार्यक्रम। अनेक कमेटियां थीं जो बारी - बारी से पूजा आयोजित करती थीं। इस तरह लोगों को मिलने - जुलने, गाने - बजाने और नाटक करने का मौका मिल जाता था। अगर कोई त्योहार होता तो पूरा समुदाय हर गतिविधि में जुट जाता।

गणेशोत्सव सबसे महत्वपूर्ण त्योहार होता था। यह उत्सव दस दिन तक चलता है। हर संस्था द्वारा गणेश की मूर्तियां सजाई जाती हैं और बहुत से कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। बेशक यह हिन्दुओं का त्योहार है लेकिन इसे धार्मिक स्वरूप दिए बगैर एक सामाजिक गतिविधि का रूप दिया जाता है। सबसे पहले गणेशोत्सव मंडलों का गठन मध्यवर्गीय इलाके गिरणगांव में हुआ था। धीरे-धीरे यह कारखानों के क्षेत्रों में तक गठित होने लगे थे। आज ये उत्सव शहर के हर इलाके में मनाया जाता है। हालांकि कारखानों में काम करने वाले मध्यवर्गीय हिन्दू थे लेकिन गणेशोत्सव में भागीदारी एकदम धर्मनिरपेक्ष थी।

गणेशोत्सव का इतिहास लोकमान्य तिलक से जुड़ा है। तिलक स्वतंत्रता संग्राम के नेता थे। वे कपड़ा मिलों के श्रमिकों में बहुत लोकप्रिय थे। तिलक ने ही राजनैतिक सहयोग के लिए सांस्कृतिक त्योहारों का उपयोग शुरू किया था। लड़ाई अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ी जा रही थी। उस बक्त राष्ट्रीय पहचान की जरूरत थी। उस आन्दोलन को जरूरत थी राष्ट्रीय घटनाओं, प्रतीकों की। पहले से स्थापित ऐतिहासिक प्रतीक हिन्दू भी थे और दूसरों को भी शामिल

करते थे। इस पहचान को बनाए रखने के लिए जरूरत थी राजनैतिक एकता और आशा के मिथक को बनाए रखने की। 1893 में तिलक ने ही गणेश चतुर्थी को, घर - परिवार में होनवाली पूजा को एक सामुदायिक उत्सव में बदल दिया। ऐसा तिलक ने 1893 में हुए हिन्दू-मुसलमान दंगों के बाद किया था। वे हिन्दुओं का विश्वास लौटाना चाहते थे। एक और प्रमुख नेता एन.एम.लोखंडे (25) इसके विरुद्ध थे। उनका मत था कि यह एक गैर-धर्मनिरपेक्ष नजरिया था। इस तरह लोगों में अन्धविश्वास और अज्ञान का जन्म होगा। लोखंडे ने तो अंग्रेजी सरकार के जरिए इस पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास तक कर डाला था। इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली थी। अनेक आजाद ख्याल सुधारकों(26) ने इस कोशिश की खुल कर आलोचना की थी। दंगों के बाद हिन्दुओं की मुहरम जुलूस में भागीदारी कम हो गई थी। दूसरी ओर गणेश पूजा का जुलूस एक तरह से हिन्दुओं के जुलूस में बदल गया था। इस तरह लोखंडे की आशंका सही साबित हुई थी। लोखंडे ने गणेशोत्सव की आलोचना की थी कि इस तरह हिन्दू देवताओं का मजाक उड़ाया गया है। लोखंडे ने तर्क पेश किया था कि तिलक ने गणेशोत्सव की तुलना पंढरपुर की वारकरी यात्रा से की है। यह उचित नहीं है। पंढरपुर की वारकरी यात्रा वास्तविक रूप से धार्मिक अनुष्ठान है जबकि गणेशोत्सव राजनैतिक और सांप्रदायिक था। बेशक यह त्योहार दिन पर दिन लोकप्रिय होता गया और एक परम्परा बन गया। गणेशोत्सव शिवाजी जयन्ती से थोड़ा अलग है। एक हिन्दू त्योहार होने के नाते इसका लक्ष्य था हिन्दुओं को एकजुट करना। तिलक का मानना था कि त्योहारों के माध्यम से मनोरंजन और साथ ही साथ शिक्षा मिलनी चाहिए और उनका वर्तमान सामाजिक संदर्भ होना चाहिए।(27) जब से यह उत्सव शुरू हुआ है हजारों की तादाद में लोग अपने - अपने इलाकों से जुलूस में समुद्र किनारे जाते हैं। वहां मिट्टी से बनी गणेश की मूर्तियां समुद्र में विसर्जित की

जाती हैं। आज भी गिरणगांव में यह उत्सव सबसे ज्यादा उत्साह पूर्वक मनाया जाता है।

हर गणेशोत्सव पर हम लोग नए नाटकों का मंचन करते थे। गिरणगांव मराठी संस्कृति का केन्द्र था। इन्हीं लोगों ने मराठी रंगमंच और संस्कृति को विकसित किया था। उनका योगदान अपने इलाके तक सीमित न था बल्कि पूरे राज्य पर उसका प्रभाव पड़ा। वे सिर्फ दर्शक नहीं थे, वे कलाकार, लेखक और कवि भी थे। वे भजन गायक और अभिनेता और नर्तक भी थे। 1949 से 1951 तक मैं एक दिन भी खाली नहीं बैठा। हर चाल की समितियां कोई न कोई कार्यक्रम आयोजित करती रहीं। हमने कभी धन की मांग नहीं की। वे जो भी देते हम ले लेते थे। कभी - कभी पूरी रात चलने वाले कार्यक्रम के लिए हमें पांच-पांच रुपए दिए गए थे। बाद में हमने व्यवसायिक दरों पर फीस लेनी शुरू कर दी। अगर हमें बीस बीस रुपए मिले तो हम अपने कलाकारों को तीन तीन रुपए प्रति रात के अदा करने लगे। मैं आधा कोंकणी और आधा घाटी हूँ। दोनों जगह की शैलियां अलग अलग हैं। कोंकण में 'दशावतारी' और घाट में 'तमाशा' का चलन है। बम्बई में दोनों शैलियों का मिश्रण हो गया। दोनों ने एक दूसरे को अपनाया और कुछ सीखा। मैंने अपनी प्रस्तुति में अनेक शैलियों का मिश्रण किया है। इनमें कोली भी शामिल हैं।

स्वतंत्रता मिल जाने के बाद चॉल समितियां सक्रिय हो गई थीं और वे अनेक कार्यक्रम आयोजित करती थीं। सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है सत्यनारायण पूजा। स्वतंत्रता दिवस, बाल दिवस, माता-पिता दिवस इत्यादि मनाए जाते हैं।

★ शेख जैनू चांद (63 वर्ष) शाहिर-चारण, अमर कलापथक नाम की सांस्कृतिक मंडली का संचालन पत्नी केसर के साथ करते हैं (यह मंडली महान वामपंथी चारण अमर शेख की याद को समर्पित है। उनके पुराने गीत ये आज भी गाते हैं। ये सात रास्ता की एक छोटी सी चॉल में रहते हैं। शेख मुसलमान और केसर हिन्दू हैं। उनका बेटा निशान्त भी मंडली का सदस्य है।

मेरी उम्र 73 साल है। मैं वाकड़ी चॉल में रहता हूँ। यह हर आन्दोलन में एक महत्वपूर्ण केन्द्र है। मेरे पिता पुलिस कॉन्स्टेबल थे और वह चाहते थे कि मैं भी पुलिस की नौकरी करूँ। लेकिन मैं राजनीति में जुट गया। मुझे कांग्रेस पार्टी का काम पसन्द था। हालांकि वामपंथी मेरे दोस्त थे। मेरी माँ - पढ़ी लिखी न थी, उनके पिता पुलिस कॉन्स्टेबल थे। मेरे पिता में पुलिस कॉन्स्टेबल की हर बुरी आदत थी। वे शराब पीते थे, जुआ खेलते थे, कभी कभी ताश के चक्कर में एक सप्ताह तक खेलते रहते। लेकिन मेरे पिता ने हमें कभी तंग नहीं किया। उन्होंने हमें अच्छे से पाला पोसा, हमें उन्होंने हर धार्मिक व्रत रखना सिखाया, हालांकि वह खुद ऐसा नहीं करते थे। एक दिन मैं अपने दोस्तों के साथ जुआ खेल रहा था। मेरे पिता वहां आए और उन्होंने मेरी खूब टुकाई की। वे मुझे चाहते थे। 1936 में वह सेवानिवृत्त हो गए। वे गांव लौट गए। मेरी माँ मेरे बारे में सब जानती थी – मेरे रंगकर्म और खेलों में मेरी हिस्सेदारी की जानकारी उन्हें थी। मैं जब घर आता तो वह जरूरत से ज्यादा खाना तैयार रखती, क्योंकि मैं जब घर लौटता तो मेरे साथ कुछ लोग होते। मेरा एक मित्र मेरी सोई हुई बहन को जगाकर ऑमलेट बनाने को कहता। कई बार मेरे मित्र मेरे घर ही सो जाते। मुझे अपने परिवार का पूरा सहयोग मिलता था। कई बार मेरी गैर-हाजरी में मेरे दोस्तों को पुलिस पकड़ कर ले जाती। मेरी माँ उन्हें छुड़वा कर लाती। मेरी माँ इस काम के लिए हर वक्त पैसे तैयार रखती। हमारे घर में एक 'ऑन्टी' भी रहती थी। वह बाम्बे डाइंग मिल्स में नौकरी करती थी। वह हमारा बहुत ध्यान रखती और हम से प्यार करती थी। मुझे जब देर हो जाती तो वह घर के बाहर बैठ कर मेरा इन्तजार करती थी। जब मैं लौटता तो वह बिना कुछ कहे मेरे पीछे-पीछे भीतर आ जाती। वह मेरे पिता की ब्याहता न थी पर वह रहती हमारे घर में ही थी। मेरे पिता और मैंने उसकी बेटियों के विवाह करवाए थे। जब वह चल बसी तो मेरे छोटे भाई ने उसका अंतिम संस्कार किया था।

★ गोविन्द फणसेकर (73 वर्ष) एक महत्वपूर्ण कांग्रेसी कार्यकर्ता। (40 साल तक सेंचुरी मिल्स में क्लर्क) कांग्रेस समिति के एफ वार्ड के भूतपूर्व अध्यक्ष। पूरी उम्र प्रभादेवी के बाकड़ी चॉल क्षेत्र में एक चॉल में रहे। इनसे भेट इनके बेटे की प्रभादेवी की फिल्म प्रोडक्शन कंपनी के दफ्तर में हुई।

खातू (60 वर्ष, पूरा नाम मालूम नहीं) सेवा निवृत्त मिल-कर्मचारी अब गणेशोत्सव मंडल में सक्रिय। चिंचपोकली गणेशोत्सव मंडल के प्रबन्ध समिति के सदस्य सदानन्द कोकाटे और अन्य सदस्यों सहित खातू ने हम से बात की।

हमारे मंडल की स्थापना 1920 में हुई थी। उसी वर्ष लोकमान्य तिलक का निधन हुआ था। पहला गणेशोत्सव मंडल एक सौ साल पहले गिरावंव में स्थापित हुआ था। हमारा दूसरा मंडल है। उन दिनों गणपति की छोटी मूर्ति बनती थी। 1953 से बड़ी मूर्तियां बनने लगी थीं। 1947 के दंगों के बाद दो - तीन सालों तक यह उत्सव नहीं मनाया गया। ऐसा माना गया था कि अब यह शुरू नहीं होगा।

गणेशोत्सव सिर्फ धार्मिक उत्सव न था। यह तो ब्रितानी राज के चलते अपने लोगों को एक जगह एकत्रित करने का तरीका था। इसका मकसद किसी तरह का नुकसान पहुंचाना न था। इसके लिए चार आने (25 पैसे) का चन्दा देना पड़ता था। मेरे पास अभी भी रसीद है। हम घर-घर जाकर चन्दा इकट्ठा करते थे। आज भी हम ऐसा ही करते हैं। कभी - कभी लोग पैसों की जगह चीनी, तेल, गुलाल देते। लोगों में समुदाय को देने की भावना प्रधान थी। आज की ही तरह तब भी लोग अपने समुदाय का मान करते थे।

जल में प्रवाहित करने से पहले गणेश जी की मूर्ति को नौ दिन के लिए रखा जाता था। वस्त्र बनाने वाले कलाकार हर तीसरे दिन नए वस्त्र पहनाते। एक दिन राम के और दूसरी बार कृष्ण के वस्त्र पहनाए जाते थे। लोग हर रोज इस त्योहार में शामिल होते। हर रोज अलग-अलग कार्यक्रम होते – कभी भजन या फिर लेजिम इत्यादि। उस समय सिर्फ हमारा मंडल था। अब बहुत सी चॉलों और दूसरे क्षेत्रों में अनेक

मंडल खुल गए हैं। सब एक दूसरे का साथ देते हैं। ऐसा कई बार हुआ है कि हमने एक-दूसरे को धन भी दिया है।

कोंकण और घाट दोनों क्षेत्रों के कार्यक्रम आयोजित किए जाते थे - भजन, मैदानी खेल 'दशावतार' (23) नृत्य-नाटक नमन, तमाशा (24) गौरी नृत्य और भारुड।

संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन (1955-60) में शाहिरों के कार्यक्रम ज्यादा लोकप्रिय हो गए थे। व्याख्यानमालाओं में भाषण देने के लिए राजनैतिक नेताओं को आमंत्रित किया जाता था। भाषण देने के लिए कांग्रेस और वामपंथी दलों के नेताओं को आमंत्रित किया जाता था। एक बार हमने दत्ता सामन्त को आमंत्रित किया था।

शिवसेना के उभरने के बाद महाराष्ट्र में कपड़ा मिलों में शिवजयंती आयोजित होने लगी। यह उत्सव ऐतिहासिक योद्धा राजा शिवाजी के जन्मदिन पर मनाया जाता है। शिवाजी ने शक्तिशाली मुगल बादशाहों के साथ छापामार गुरिल्ला युद्ध किया था। शिवाजी ने 'स्वराज्य' का आह्वान किया था। आजादी की मांग करती यह पहली लड़ाई थी। उन्होंने राजदरबार में उपयोग की जा रही फारसी की जगह प्राकृत के इस्तेमाल को लोकप्रिय बनाया था। शिवाजी ने आर्थिक और भूमि सुधार किए। वे एक न्यायप्रिय और लोकप्रिय शासक थे। वे गैर-ब्राह्मण थे एक मराठा (योद्धा जाति) और महाराष्ट्र के इतिहास में एक लोकप्रिय प्रतिमा थे। शिवाजी ने दख्खन से अपना साम्राज्य बढ़ा कर महाराष्ट्र और गुजरात के कई हिस्सों तक फैला लिया था।

1906 में कलकत्ते में शिव जयंती मनाने के लिए एक विशाल सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था। तिलक ने कहा था कि शिवाजी सिर्फ हिन्दू प्रतीक न थे, न ही उनकी लड़ाई मुसलमानों के विरुद्ध थी। वे तो मुसलमान शासन का विरोध कर रहे थे। तिलक ने कहा था कि शिवाजी आजादी और संघर्ष के प्रतिनिधि थे (28) वे एक लोकप्रिय प्रतीक हैं, उनका इस्तेमाल अलग-अलग राजनैतिक दल अपने अपने कार्यक्रमों के अनुसार करते

रहे हैं। (29) तिलक ने पहले शिवाजी समारोह में 1896 में भाग लिया था। यह आयोजन शिवाजी के ऐतिहासिक किले में किया गया था। यह किला कोंकण में स्थित है। 1673 में इसी रायगढ़ किले में शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ था। 1896 में आयोजित इस समारोह में सांस्कृतिक कार्यक्रम, खेलकूद प्रतियोगिताएं, व्यायामिक और सार्वजनिक भाषण आयोजित किए गए थे। (30) तिलक का मक्सद लोगों को एकजुट करना था। यही तरीका कुछ सालों बाद शिवसेना ने अपनाया। कांग्रेस और वामपंथियों ने इसे नजरअन्दाज किया था। शिवसेना ने गणेशोत्सव का इस्तेमाल अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए किया। नवरात्रि और शिवजयंती मनाने के लिए शिवसेना ने समितियां गठित की। इन कार्यक्रमों को गणेशोत्सव (31) की ही तरह मनाया जाने लगा। इन त्योहारों में हिन्दू और धार्मिक पक्ष को महत्व दिया गया। शुरू के वर्षों में गिरणगांव के वामपंथी भी गणेशोत्सव में भाग लेते रहे। कुछ वर्षों बाद वामपंथियों और समाजवादियों ने इसमें शामिल होना बद्द कर दिया। उन्होंने ऐसा यह कह कर किया कि यह एक धार्मिक अनुष्ठान है। पहले इसे धर्मनिरपेक्ष तरीके से मनाया जाता था। शिवसेना और कट्टरपंथी हिन्दूओं ने सब बदल दिया।

जाति और धार्मिक भेद

19वीं सदी के मध्य और अन्त में गिरणगांव में समुदाय एकजुट और अभिन्न अंग था। इसका यह मतलब कर्तई नहीं है कि धर्म, जाति या किन्हीं और कारणों से कोई टकराव न थे। हिंसा जीवन का एक हिस्सा था।

पगड़ियां पहने, ऊँचे लम्बे कद के हट्टे कट्टे पठान, हाथ में डण्डा पकड़े खुले ढीले-ढाले पठानी कपड़ों में जब आते तो बड़ा डर लगता। मिलों में काम करने वालों के बेतन मिलने के दिन मिल के गेट पर पहुंच जाते। उन्हें, उधारी में दी गई रकम पर व्याज उगाहना होता था। वे औरतों से शारीरिक सम्बन्ध भी बनाते और कभी -कभी तो उधार ले चुके लोगों

को अपनी पत्नी बेच देने का भी प्रस्ताव रख देते थे। (33) उषा डांगे (34) के अनुसार पठान उनकी चॉल के बाहर अपनी चारपाई लाकर वहाँ लेट जाते। लोग उनसे बहुत डरते थे। इसलिए वे उस रास्ते से आते-जाते ही न थे। यह डर हिंसा में बदल जाता। 1929 में गिरणगांव में हुए हिन्दू मुसलमान दंगों को पठान दंगों का नाम दिया गया था।

मैं हिन्दुस्तानी हूँ। मैं जरा क्यों जाऊँ? दो हजार साल पहले कूसेड्स के दौरान यहूदी फिलिस्तीन छोड़ कर दुनिया के कई देशों में भाग गए थे। एक जहाज केरल बन्दरगाह पर रुका फिर वह उत्तरी कोंकण तट पर चला गया था। समुदाय के लोग यहाँ बस गए थे। मेरा जन्म एक गांव में हुआ था। यह गांव था जंजीरा जिले का गोंडघर। अब यह रायगढ़ जिले का हिस्सा है। जंजीरा पर एक मुसलमान शासक सर मुहम्मद सिद्दी का राज था। यहां बहुसंख्यक लोग मुसलमान थे। इनमें से बहुत से लोग अफ्रीका गए। वहां कमाए धन से वे यहां जमीन खरीद लिया करते। जमीनों के मालिक आम तौर पर मुसलमान या ब्राह्मण ही होते थे।

हमारा परिवार खेतिहार मजदूर समुदाय का ही एक हिस्सा था। मेरी माँ बहुत ही ताकतवर थी। वह खेतों में काम करती थी। वह मेरे पिता से लम्बी थी। मेरे पिता एक दिन में छह आने कमाते थे। वे हमारी बैलगाड़ी को किराए पर देते थे। मेरे पिता बहुत धार्मिक प्रवृत्ति के थे। वे नियमित रूप से सिनेगां-यहूदी प्रार्थनाघर जाते थे। मेरे माता-पिता के 14 बच्चे थे। लेकिन सिर्फ चार ही जिन्दा बचे थे।

मैंने पांचवीं जमात तक पढ़ाई की। मुझे आगे पढ़ाने के लिए मेरे माता-पिता के पास पैसे न थे। इसलिए मुझे गांव लौटना पड़ा था। मेरी बहन बम्बई में ब्याही थी। जंजीरा से टट तक आने के लिए छह घण्टे लगते थे। ट्राम में टिकट एक आना थी और इस तरह गिरणगांव पहुंचा जा सकता था। मेरा भाई एडवर्ड (अब भारत टैक्सटाइल) मिल्स में बदली मजदूर था।

कपड़ा मिलों में बहुत से इज़रायली काम करते थे। जेकब ससून एक यहूदी था और वह बम्बई में 14 मिलों का मालिक था। वह ऊँची जाति का था - कोहेन जाति। मेरा परिवार तीसरी और सब से निचली जाति इज़रायली का था। बीच की जाति लेवी नाम से जानी जाती है।

मेरे भाई ने मुझे यहूदी मिल में नौकरी दिलवाने की नाकाम कोशिश की थी। मैंने बहुत सी मिलों में काम किया।

उन दिनों बुनकर का काम बहुत मुश्किल होता था। स्वचालित करथे बहुत बाद में आए। बुनकर को लीबर एक हाथ में पकड़कर डोटा दूसरे हाथ से खींचना पड़ता था। साथ ही उसे डोटा से कंडी को हटाना होता था। युद्ध के दौरान हमें ब्रितानी फौज के लिए कैन्वस चादरें तैयार करनी होती थीं। सोलह धागों को एक करना होता था। धागा खूब मोटा होता था। पाँच रीलों का करघा इस्तेमाल होता था। सूत के रेशे नाक में चले जाते और वहीं सड़ते रहते थे। मुझे दस दिन तक अस्पताल में रहना पड़ा था। वे रुई को जलाते। कई दिनों तक सड़न मेरे नाक और गले से बाहर निकलती रहती। यह बड़ी आम सी बात थी। इस तपेदिक (35) से 10-12 प्रतिशत कारीगर ग्रस्त रहते थे।

1940 में हमें 40 रुपए का बोनस मिलता था। हमारा न्यूनतम वेतन 30 रुपए प्रति माह था।

मुसलमान लालबाग के पेरु अहाते में रहते थे। वहां मस्जिद थी। वहीं बाजार भी था। बाजार से किराया लेने वाले मुसलमान थे। मोहम्मदी बिल्डिंग में रहने वाले पचास पचास प्रतिशत लोग हिन्दू और मुसलमान थे। मिल में काम करनेवाले मुसलमान बहुत कुशल थे। वे उत्तर प्रदेश के थे। वे कताई और आकार के मुताबिक सजाने में माहिर थे। कारखानों में मुसलमानों के प्रति कोई द्वेष -भाव न था। फिर भी हिन्दू कारीगर मुसलमानों का खाना नहीं खाते थे। मैं तो खा लेता था। यहूदी होते हुए भी हिन्दुओं के घरों में मेरा आना-जाना, खाना-पीना था।

बुनाई विभाग में दलितों से काम नहीं करवाया जाता था। जुपिटर मिल में एक वामपंथी नेता ने एक दलित महार मजदूर को बुनाई विभाग में काम देकर उसे बुनकर बना दिया। पूरे विभाग ने इसका विरोध किया। क्यों? क्योंकि वामपंथी आन्दोलन यूरोप से आया था। वहां जात-पात को नहीं माना जाता है। नेताओं का पूरा ध्यान जाति की जगह कारीगरों पर केन्द्रित रहता था।

सोलोमन साइमन कुडगांवकर (89 वर्ष) यहूदी। लाल निशान पार्टी में सक्रिय कार्यकर्ता। 33 वर्ष तक स्टैण्डर्ड (चाइना) मिल्स में काम किया। विवाहित। तीन बच्चों में से एक इज़राइल में है।

हालांकि गिरणगांव में रहने वाले अधिकांश लोग महाराष्ट्र के मध्यवर्गीय हिन्दू जाति के थे लेकिन ऐसे भी बहुत -से थे जो उत्तर प्रदेश और दक्षिण के आंध्र प्रदेश से आए थे। बहुत से मुसलमान और दूसरे अल्प- संख्यक भी थे। समुदाय सजातीय न थे। उदाहरण के लिए पठान और जुलाहे दोनों ही मुसलमान थे। फिर भी उनमें बहुत कुछ अलग था। शुरू के सालों में जुलाहे बुनकरों की मांग ज्यादा थी और वे जातीय आधार पर एकजुट थे। वे अपनी महत्ता समझते थे और रात की पाली में काम नहीं करते थे। उच्च जाति के लोगों को इनसे कोई दिक्कत न थी। बेशक दलित कारीगरों के साथ उन्हें कई शिकायतें थीं।

अन्य लोग मुसलमानों के प्रति बैसी ही सोच रखते हैं जैसी सोलोमोन की थी। लेकिन उच्च और मध्य जाति के लोग दलितों को अछूत मानते थे।

मिलों में काम करने वालों में अछूतों की संख्या बहुत कम थी। शहर की कुल जनसंख्या में 1872 में से 4.86 अछूत थे। 1911 में 9.09 प्रतिशत और 1921 में 11.53 प्रतिशत अछूत थे। 1941 में यह संख्या 8.15% थी। इसके अनुरूप मिलों में दलितों का प्रतिशत क्रमशः 0.99, 9.05, 11.91 और 12.81। 1921 के बाद मिलों में दलितों का प्रतिशत शहर के मुकाबले ज्यादा हो गया था (36) ऐसा

इसलिए हुआ क्योंकि दलितों के लिए अवसरों की जितनी कमी गांव में थी उतनी ही शहरों में भी थी। फ्लश होने वाले शौचालय बहुत धीरे-धीरे बने थे। 1920 तक मतभूत को (हलालखोरी) ढोना केवल दलितों का काम था।

दलित श्रमिकों को संघटित करने की विशेष कोशिश किसी भी मिल ने नहीं की हालांकि कुशल जुलाहों के लिए उन्होंने की थी। दरअसल कुछ मिलों ने नीति घोषित कर दी थी कि दलितों को नौकरी नहीं दी जाएगी। उदाहरण के लिए युनाइटेड स्प्रिंग एंड वीविंग मिल्स ने 1874 में अपनी नीति घोषित की थी कि 'दलित वर्ग' को कोई नौकरी नहीं दी जाएगी। 1908 में पेटीट मिल्स ने भी ऐसा ही किया था। मिलों में दलितों को झाड़ लगाने का काम आसानी से मिल जाता था। इसमें कोई शक नहीं कि मिलों में जातीयता थी। यह एकदम मिथ्या है कि शहरों में एक साथ कामकाज करने वालों में अपने -आप ही जात-पात का सवाल नहीं था। ऐसा संभव करने के लिए किसी बाहरी शक्ति की जरूरत थी।

गिरणगांव में हिसात्मक घटनाएं स्थानीय जीवन का एक हिस्सा थीं। 1893 में सौराष्ट्र में हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगों के फलस्वरूप ही बम्बई में दंगे हुए थे। 11 अगस्त, 1893 को दक्षिण बम्बई की जामा मस्जिद से नमाज पढ़ कर लौट रहे मुसलमानों ने हिन्दुओं पर हमला किया था। अगले दिन गिरणगांव के हिन्दुओं ने मुसलमानों पर जवाबी हमला किया था। मिलों और गोदीबाड़ों पर ताले लग गए थे। आठ दिनों तक दंगे होते रहे। इस दौरान 80 लोग मारे गए थे (33 हिन्दू, 46 मुसलमान, एक यहूदी) और 700 लोग जख्मी भी हुए थे (39)। पुणे में लोकमान्य तिलक ने शनिवारवाड़ा के बाहर हिन्दुओं की एक सभा की थी। उन्होंने हिन्दुओं से कहा था कि अपनी रक्षा के लिए तैयार नहीं तब तक अंग्रेज दंगे करवाते रहेंगे। लोखंडे ने तिलक की आलोचना करते हुए कहा था कि तिलक मुसलमानों को दोषी न कहें, उन्हें किसी ने सौराष्ट्र से आकर उकसाया था। लोखंडे ने कहा था कि तिलक भी

हिन्दुओं को उकसा रहे हैं। यह आरोप सच है या झूठ पता नहीं पर लोखंडे का मानना था कि दोनों ही समुदाय जिम्मेदार हैं।

20 साल पहले भी जातिवाद मिलों में प्रचलित था। हम ने एक बार एक दलित विष्णु को पानी का मटका भरने को कहा। ऊँची जाति के कार्यकर्ता उस मटके को छूते तक न थे। हमने उनसे जब इस विषय पर बात की तो वे बोले 'मास्टर' (38) तुम लोग एक महार (दलित) के हाथ का पानी कैसे पी सकते हो? वे उसके साथ बैठ कर पान खा लेते थे पर उसके हाथ का पानी नहीं पीते थे। वे उससे कभी बुरा व्यवहार नहीं करते थे, वे उससे दोस्तों जैसा बरताव करते पर उसके घर कभी नहीं जाते थे। न ही उसके साथ खाना खाते थे। ऐसा बरताव वह हर महार से करते। मजे की बात यह थी कि मराठी कारीगरों को उत्तर भारतीय कारीगरों की जाति का पता नहीं चलता था। इसलिए वे उनके साथ छुआछूत नहीं करते थे।

महारों को मिलों में सिर्फ कताई के काम पर रखा जाता था। करघों के आधुनिकीकरण से पहले बुनकर को बोबिन से धागे को होठों से खींचना पड़ता था। पहली पाली में अगर महार ने काम किया होता तो गैर दलित उस करघे पर काम करने से इन्कार कर देता था। आधुनिकीकरण हो जाने के बाद भी दलितों को सिर्फ कताई का ही काम दिया जाता रहा। बेशक वेतन हम सबका एक समान था। पहले वक्तों में हमारी मिल में काम करने वालों में से 80% महार ही थे।

एक बार जब हम मिल में पूजा का इन्तजाम कर रहे थे तो मैने और एक सी.पी.आई.एम के एक कमेटी सदस्य ने एक महार को वाइस प्रेसिडेंट नियुक्त कर दिया। हमने उसकी जाति के स्थान पर उस की प्रबन्ध क्षमता को ध्यान में रखा था। श्रमिकों ने एतराज किया। पूजा के बाद उन्होंने प्रसाद लेने से इन्कार कर दिया था। मिल में यह एक बड़ा मसला बन गया था। पर हम अपने फैसले पर टिके रहे थे।

★ दत्ता इसवलकर (51 वर्ष) मार्डन मिल्स में कलर्क

‘क्लोजड मिल्स एक्शन कमेटी’ के प्रेरक और संस्थापक। इसका गठन 1989 में हुआ था। राजनैतिक जीवन की शुरुआत समाजवादी दल के महा सचिव से हुई। गिरणी कामगार संघर्ष समिति के अध्यक्ष और मिल चॉल किराएदार संगठन से सम्बद्ध। मार्डन मिल चॉल में आवास।

कला और कलाकार

क्षेत्र के सामुदायिक जीवन और त्योहारों के मनाए जाने के फलस्वरूप विविध प्रकार के कामकाजी कलाकारों के विकास को प्रोत्साहन मिला। गिरणगांव ने शहर को अनेक गायक, अभिनेता, लेखक, कवि, कलाकार दिए और स्थानीय कलाकारों के ही कथनानुसार शहर ने बड़ी गर्मजोशी से उन्हें सराहा।

यों सभी ललित कलाएं लोकप्रिय थीं पर सबसे ज्यादा लोकप्रियता नाटकों को मिली। ऐसा गिरणगांव और शहर में देखने को मिला। कोंकण और घाट की अपनी-अपनी सांस्कृतिक लोक कलाएं हैं। इन्हें कपड़ा मिलों के कामगारों ने ही गिरणगांव तक पहुंचाया। मंडलों के निमंत्रण पर कोंकण और घाट से व्यावसायिक कलाकारों के दल हर साल अपनी प्रस्तुतियां पेश करते। लोक शैलियां होने के नाते यह क्षेत्र और जाति पर आधारित होती हैं और लोगों के दैनिक जीवन से जुड़ी होती हैं। निवृत्ति पवार द्वारा नीचे वर्णित ‘ओवी’ एक ऐसा गीत है, जिसे महिलाएं सुबह सबेरे अनाज पीसते वक्त गाती हैं। गीत की लय, ताल अनाज पीसने की चक्की के पत्थर से आते स्वर से मेल खाती है।

मैंने दाय स्वरूप अपनी माँ से सिफ संगीत के लिए प्यार पाया। सुबह -सबेरे मेरी माँ अनाज पीसते वक्त ओवी गाती थी। मैं इसी याद के साथ बड़ा हुआ। सुबह नींद खुलते ही मुझे माँ की मधुर आवाज और पत्थर से पत्थर के टकराने, पीसने की आवाज सुनाई देती थी। गीतों के विषय होते थे, प्रकृति की शोभा, बीज बुवाई और कटाई और जीवन-मूल्य। 1970 में जब मेरा पहला रिकार्ड बना तब मैंने पहला गाना वही गाया

था जो मेरी माँ गाती थी।

मैं आठ साल का था जब मैंने गांव के प्रमुख गायक के साथ कीर्तन में गाया था। उन्होंने कहा था ‘यह लड़का महान गायक बनेगा’।

मेरे पिता घर -घर जाकर नमक बेचते थे। मैं उनके साथ जाता था। चलते - चलते अगर किसी भी घर से ढोल की आवाज आती तो मेरे पांव डगमगा जाते। मेरे पिता मुझे डांट देते - ‘संगीत के चक्कर में मत पड़ो। इससे कुछ नहीं मिलने वाला। क्या तुम तमाशा में नाचना चाहते हो?’ उनका मानना था कि कलाकार चरित्रहीन, शराबी होते हैं। वे कहा करते थे ‘अगर मेरा बड़ा बेटा ऐसा बन गया तो मेरे बाकी बच्चों का क्या होगा?’ पर उन्हें बताए बगैर मैं पहुंचापूराव का मशहूर तमाशा देखने चला गया। टिकट दो रुपए था। वहाँ क्या भारी भीड़ थी ! ढोलक की पहली ताल के साथ मेरा पूरा शरीर रोमांचित हो गया था।

एक बार मेरे पिता मुझे अपने आध्यात्मिक गुट के पास ले गए थे। वहाँ आरती गाई जा रही थी। मैंने भी उनका साथ दिया। महाराज ने पूछा ‘यह लड़का कौन है?’ मेरे पिता ने उनसे शिकायत की थी कि यह लड़का तमाशा में लावणियां गाता है। गुरु जी ने कहा ” यह लड़का जो भी गाता है इसे गाने दो ” उसके बाद, मेरे पिता ने जब जहाँ मैंने चाहा मुझे गाने दिया।

गिरणगांव में एक शाहीर था, नाम था - शाहीर हरिभाई भण्डारी। वह कोंकण का एक जायकेदार खाजा बेचा करता था। ऐसा करते समय वह गाया करता था। मैं उसके साथ जाता था। हम दोनों देशभक्ति के गीत- गाते गाते खाजा बेचते थे। मैं स्थानीय लोगों में बहुत लोकप्रिय हो गया। वे मुझे दो - तीन रुपए देते थे। फिर मुझे समारोहों में गाने के लिए न्यौते मिलने लगे। एक दिन तो उन लोगों ने मेरे गाने के बाद मुझे एक -एक सौ रुपए के करारे नोटों का हार पहना दिया था। मुझे वह दिन कभी नहीं भूलेगा। मेरी संगत करने वाले हारमोनियम वादक ने कहा था ‘क्यों न हम इसे पेशा बना

लें?' हमें खूब पहचान और प्रोग्राम मिल रहे थे।

उन दिनों बम्बई में ढेरों खुले बड़े-बड़े स्थान होते थे। ग्रांट रोड में एक -एक घण्टे तक वाहन का नजर न आना आम बात थी। गिरणगांव में भी साफ -सुधरे मैदान थे। जब आप सड़क पर निकलते भजन और कीर्तन ही सुनाई पड़ते थे। सितंबर में होने वाले गणेशोत्सव के गणेश की मूर्तियां लालबाग में बनती थीं। हम मूर्तिकार को काम करते देखने जाते थे। रंगोली बनाने वाले कलाकार भी बहीं होते थे। वे बेहद सुन्दर चित्र बनाते थे। चित्र इतने सप्राण होते कि लगता बस अभी वे बातें करने लगें। ये चित्र सड़क पर बनाए जाते थे। लोग इहें देखने आते थे। आज तो कारें फुटपाथों, पटरियों पर चढ़ जाती हैं।

आप सुनकर हैरान होगे कि उन दिनों मराठी लोग बाहरी लोगों को देखकर डर जाते थे। हम सब गरीब और अनपढ़ थे। हम अंग्रेजी नहीं बोल सकते थे। वे लोग पढ़े लिखे बाबू-साहिब थे और अंग्रेजी बोलते थे।

गिरणगांव में लोग मुझे 'मीठवाला शाहिर' (नमक बेचने वाला चारण) शाहिर पदवी लोग आप को देते हैं। यह पदवी कोई संस्था नहीं देती है। थोड़े समय के लिए मैंने जुपिटर मिल्स में नौकरी की। मुझे बम्बई के बाहर से निमंत्रण आने लगे। मैं क्रान्तिकारी गीत गाता था। बहुत जल्दी मेरी गिरफ्तारी का वारंट निकल गया। कुछ समय के लिए मैं भूमिगत हो गया। मैं महाराष्ट्र की वामपंथी स्तर की किसान और मजदूर दल का सदस्य बन गया। 1949 से लेकर अगले 10-12 साल तक मैं सक्रिय रहा। उनकी हर बैठक की मीटिंग मेरे गाने से शुरू होती थी। नाना पाटिल के नेतृत्व में उन्होंने जनता की सरकार स्थापित कर ली थी(40)। मैं एक मीटिंग में गाने के लिए शोलापुर गया था।

★ निवृत्ति पवार (65 वर्ष) मराठी का लोकप्रिय गायक।

अधिकांश लोक शैलियों की तरह महाराष्ट्र में भी इन्हें तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

1) ओवी की तरह दैनिक जीवन से जुड़ी अभिव्यक्तियां।

2) भारुड और गोंधल (41) की तरह धार्मिक अनुष्ठानों, स्थानीय देवी-देवताओं से जुड़ी कलाएं। 3) दशावतार और तमाशा की तरह दर्शकों के लिए आयोजित सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां। समय गुजरने के साथ इन शैलियों को अव्यवसायी कलाकारों ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा दर्शने के लिए इस्तेमाल किया। इस तरह लोक नाट्य जैसी शैलियां उभरीं, बेशक ये लोग राजनैतिक आन्दोलनों से भी जुड़े थे।

तमाशा सबसे लोकप्रिय और स्थाई शैली बन गई। इसे रंगमंच और फिल्मों में भी जगह मिली है। बम्बई में बहुत सी तमाशा रंगशालाएं थीं जो मजदूरों के क्षेत्रों में थीं। आखिरी ऐसी रंगशाला लालबाग में हनुमान थियेटर में थी।

पहले मिलों में काम करने वाले कोंकण और घाट से अपने जान पहचान के दलों को शहर बुलाते थे। धीरे-धीरे शहर में ही दल बन गए। चूंकि शहर की जनसंख्या मिली जुली थी। इसलिए अलग-अलग शैलियों के विलय के बाद नई शैलियां उभरने लगीं। महाराष्ट्री और गुजराती मध्यवर्ग में अग्रमंच थियेटर और उत्कृष्ट नाटक लोकप्रिय होने लगे। दशावतार रंगमंच -उन्मुख शैली थी। गिरणगांव ने दोनों शैलियों का अपने नए नाटकों में समावेश कर लिया था। यह शैली इतनी लोकप्रिय हुई कि अनेक नाटककार उभर कर सामने आए। हर एक मिल का अपना निजी दल होता था। इसलिए नाटकों की प्रतियोगिताएं आयोजित की जाती थीं। गिरणगांव और पूरे शहर के लिए यह एक महत्वपूर्ण गतिविधि होती थी। चॉल में हर रोज नाटक पेश किए जाते। हर गली में पूजा आयोजित की जाती और ढेरों रंगमंडलियां उभर कर सामने आ गईं।

मैं पूरी जिन्दगी तेजूकाया बिल्डिंग में रहा हूँ। मेरे पिता दस साल की उम्र में महाड़ कोंकण से बम्बई में आये। मैंने टेक्सटाइल डिजाइन में डिलोमा कर कुछ वक्त तक स्वदेशी मिल्स में काम किया। फिर मैंने मूर्तियां बनानी शुरू कीं और वे बिकने भी लगीं तो मैंने नौकरी छोड़ दी।

मैं जब छोटा था तब से मुझे गणेशोत्सव की सजावट

देखना अच्छा लगता था। चिंचपोकली गणेशोत्सव मंडल की स्वर्ण जयंती के अवसर पर श्याम सारंग ने 'शकुन्तला' के दृश्य बनाए थे। वे मुझे कभी नहीं भूलते। वैलिंग एक महान कलाकार था। वह एक पूर्णतावादी था, मेरी पूरी पीढ़ी का गुरु था। उसकी कलाकृतियां किसी भी कोण से देखें तो कोई त्रुटि नजर नहीं आती। मैं खुद भी यही कोशिश करता हूँ। मेरी बनाई पहली मूर्ति पांच फुट ऊँची थी। जब मैं 17 साल का था तब मैंने हिन्दू सिनेमा मंडल के लिए 14 फुट ऊँची मूर्ति बनाई थी। मेरे गुरु वैलिंग ने जब मुझे बधाई दी तो वह क्षण मेरे लिए गौरवपूर्ण था। उसके बाद मैंने कभी भी पीछे मुड़ कर नहीं देखा।

गिरणगांव की संस्कृति के चलते हम सब एक थे। अब यह सब बदल गया है।

गणेशोत्सव का मतलब होता है सब मिलजुल कर खुशी मनाएं। अगस्त-सितंबर से एक महीना पहले तैयारियां शुरू हो जाती हैं। मंडल के लोग उत्सव की तैयारी उतने ही जोशोखरोश से करते जैसे अपने ही परिवार में करते थे। वे सब काम खुद करते थे। अब सब कुछ व्यावसायिक हो गया है। इसमें अब आत्मीयता नहीं है। उत्सव के लिए धन जमा करना हम सब को एक दूसरे के नजदीक लाती थी। कोई जोर-जबरदस्ती न थी। जो धन देते थे वे उस दिन का इन्तजार करते थे। यह सब 1982 की हड्डताल तक होता रहा। फिर लोगों ने अपने घर बेचने शुरू कर दिए। वे कहीं और रहने लगे। अब कोई उत्साह नहीं है। नई पीढ़ी इस सामूहिक उत्सव में रुचि नहीं रखती है। तब उत्सवों को, बड़ा समारोह माना जाता था। हालांकि लोग गरीब थे पर हमारे उत्सव से अमीर भी ईर्ष्या करते थे। हर गली में भजन, नाच-गाना, लोकनाट्य, एकांकी नाटक और फैसी ड्रैस प्रतिस्पर्धाएं आयोजित की जाती थीं। हर गली में लोक कलाओं का आयोजन होता था। पेरुचाल में चित्रकला प्रतिस्पर्धा आयोजित होती। कोंकण और घाट के लोग अपनी-अपनी कलाओं का प्रदर्शन करते। कोंकण

के दल नाटक और नमन, भारुड, पेश करते। समुद्र में मूर्ति विसर्जन के लिए जाते समय घाट के लेजिम दल साथ-साथ चलते थे। दोनों समुदायों में गणेशोत्सव मनाने के तरीके में कोई फर्क न था।

राजनैतिक दलों का इन सबमें कोई दखल न था। सबसे मशहूर मंडल लालबाग मार्किट में हैं (उसे 'लालबाग का राजा' नाम से पुकारा जाता है)। ये हैं चिंचपोकली मंडल, गणेश गली और रंगारीबड़क। लोग किराए के ट्रक में बैठ कर गणेश मूर्तियां देखने लालबाग आते। वे सड़क किनारे आग जला कर खाना पकाते। उन दिनों सब एक पंक्ति बना कर बारी-बारी से जाया करते तब कोई 'पास' का इन्तजाम न था।

हाँ, गणेशोत्सव एक धार्मिक त्योहार है, लेकिन कभी ऐसा नहीं सोचा था। यह शब्द तो अब इस्तेमाल होने लगा है। पहले तो हर गणेशोत्सव एक सामाजिक उत्सव होता था। पूरे साल भर आयोजित होने वाली प्रतियोगिताओं के लिए इसी समारोह में विजेताओं को सम्मानित किया जाता था। इसे धार्मिक स्वरूप देने के लिए मतलबी राजनैतिक लोग जिम्मेदार हैं।

राज्य में हर कला, हर खेल, हर चीज के लिए इनाम दिए जाते हैं। मूर्तियां बनाने वालों के लिए कोई इनाम नहीं है। ऐसा एक पुरस्कार लोकमान्य तिलक के नाम से दिया जाना चाहिए। हम में से दो-तीन लोग तो आर्थिक रूप से सक्षम हैं पर उनका क्या जो सक्षम नहीं है? राज्य को चाहिए कि मूर्ति बनाने वालों को जगह दी जाए जहां बैठ कर उत्सव के पहले वे काम कर सकें। हम सिर्फ इतना ही तो मांग रहे हैं। जरा देखिए हर तरफ कितने भवन बन रहे हैं।

★ विजय खातू (45 वर्ष) शहर के सबसे प्रसिद्ध गणेश मूर्तिकार।

गुणवत्त मांजरेकर (68 वर्ष) पारम्परिक रंगोली कला का प्रसिद्ध कलाकार।

मेरा परिवार बहुत गरीब था। मेरे पिता बड़ौदा के

सयाजीराव गायकवाड के दरबार में एक कलाकार थे। मेरे पिता जी का निधन हुआ तब मैं एक साल का था। मैं इकलौता बच्चा था। मेरे लालन-पालन में मेरी माँ को बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा था। मेरी माँ ने मजदूरी करके मुझे पढ़ाया। उनका सपना था कि मैं एक कलाकार बनूँ। मैं बहुत गरीब था। इसलिए मैं किसी कला-स्कूल में पढ़न सका। मेरी माँ सुबह-सवेरे काम पर जाने से पहले तुलसी पूजा करके उस पौधे के चारों ओर रंगोली बनाती थी। वह बिना किसी ब्रश या रंगों के बेहद सुन्दर रंगोली बनाती। माँ के चले जाने के बाद रंगोली पाउडर से मैं तस्वीरें बनाता। मैं रंगोली के नमूने नहीं बनाता था। मैं बच्चों की तरह नमूने बनाता-जैसे दो पहाड़ और पीछे से निकलता सूरज। धीरे-धीरे मैंने चित्र बनाने शुरू किए। मुझे सिखाने वाला कोई न था। मैं शिवाजी और राष्ट्रीय नेताओं के चित्र बनाता। धीरे-धीरे मेरी अपनी शैली विकसित होती गई। बेशक मुझे यह सब करना बहुत अच्छा लगता पर मेरे काम को सराहने वाला कोई न था - न रिश्तेदार, न कोई दोस्त। किसी को कला में कोई रुचि नहीं थी।

1947 में मुझे थोड़ी -बहुत तारीफ तब मिली जब मेरी टीचर ने मुझे अपने बनाए चित्र स्वतंत्रता दिवस पर प्रदर्शित करने को कहा। मैंने अपने शिक्षक को बताया कि मैं रंगोली से गांधीजी और नेहरू के चित्र बनाता हूँ। उन्होंने 32 रुपए का खर्च मंजूर कर लिया। सब लोगों ने मेरे बनाए चित्रों को सराहा। यह एक शुरुआत थी। हर कोई जानना चाहता था कि मैंने चित्र बनाना किससे सीखा।

एक छात्र के पिता व्यापारी थे। उन्होंने एक धार्मिक अनुष्ठान के दौरान मुझे रंगोली बनाने का काम दिया। मेरी उम्र सिर्फ 14 साल थी। वे पौराणिक विषयों पर चित्र बनवाना चाहते थे। मैंने जो चित्र बनाए वे भगवान शिवजी के थे। लोग मेरी तारीफ करते, कोई कुछ खाने को देता, कोई कोई पैसे भी देते। मैं बहुत उत्साहित था। फिर गांव में रंगोली बनाने के न्यौते मुझे मिलने लगे। लोगों को मालूम न था कि रंगोली से

चित्र और नजारे भी बनाए जा सकते हैं।

रंगोली एक लोकप्रिय कला है। अमीर-गरीब सब इसकी सराहना कर सकते हैं। यह एक समाजवादी कला है। आम आदमी अमूर्त कला की सराहना नहीं कर सकता है। कला प्रेमी होना अमीर आदमियों का शौक है। वे चित्र देखते हैं 'बहुत बढ़िया बहुत बढ़िया' कहते हैं। चित्र खरीद कर अपने घर की दीवार पर टांग देते हैं। असली कला-प्रेमी ही कला को समझते हैं तारीफ करते हैं और कलाकृतियों को देखकर आनन्द का अनुभव करते हैं। रंगोली एक लोकप्रिय कला है। अमीर या गरीब, हर महिला अपने घर के बाहर रंगोली बनाती है। रंगोली कला की एक ही सीमा है। यह स्थाई नहीं है। इसे दिवार पर टांगा नहीं जा सकता है। ऐसा करने के लिए रासायनिक रंगों का इस्तेमाल करना पड़ेगा। मैंने इस कला को विकसित किया है। जब आप जलरंगों से चित्र बनाते हैं तो पहले हल्के रंग का इस्तेमाल करते हैं। फिर गहरे रंगों का। तेल रंगों में पहले गहरे रंग इस्तेमाल होते हैं। फिर हल्के। रंगोली में दोनों के मिश्रण का इस्तेमाल होता है। यह कला पाठशाला में नहीं सिखाई जाती है। मैंने सप्ताहांत में छात्रों को चार महीने के कोर्स चला कर रंगोली सिखाई है।

जब मैं छोटा-सा बच्चा था तब मेरा परिवार बर्बई आया था। उन दिनों रहने को घर मिल जाता था। मेरे पिता थोक में सब्जी खरीद कर लालबाग में फुटकर में बेचते थे। लालबाग से दादर तक सिर्फ एक ही परचूनिया की दुकान थी और वह मेरे पिता की थी। मेरी दादी उनकी मदद करती थी। हमारे ग्राहक मजदूर लोग थे इसलिए मेरे पिता उनकी ही पसन्द और जरूरत की सब्जियां लाते थे।

पैसों की कमी थी। मैं सिर्फ आठवीं तक ही पढ़ पाया।

समुदाय का जीवन मिल के आसपास घूमता था। घड़ी देखने की जरूरत न पड़ती। भोंपू से समय की जानकारी मिल जाती। मैं सुबह 6 बजे उठ जाता था। जब सात बजे का भोंपू बजता तो पता चलता कि सात बज गए हैं। तब मैं स्कूल चला

जाता। एक बार लोग सात बजे के भोंपू के बजने से पहले काम के लिए तैयार हो रहे थे। भोंपू बजने से थोड़ी देर पहले लालबाग की गैस टरबाइन फट गई। आग का एक गोला उठा और समुद्र में गिर गया। हर कोई उन लोगों की ओर भागा जो आग की चेष्ट में आ गए थे। कई लोगों की चमड़ी जल गई थी। पर तब समुदाय एक दूसरे के बहुत नजदीक था।

मेरे पिता के एक दोस्त ने सुझाव रखा कि ठेके पर तमाशा का आयोजन किया जाए। आज जहां हनुमान थियेटर है वहां तब सब्जी का खेत था। उसके आसपास सिर्फ जंगल था और कुछ भी नहीं था। मेरे पिता ने वह जगह किरण पर ले ली। 1946 में बहुत सी बैलगाड़ियां होती थीं। हम उन्हीं में सामान इधर - उधर ले जाते थे। मेरे पिता के पास रंगशाला बनाने के लिए धन न था। सो बैलगाड़ियों के सहरे कपड़े लटका कर मंच बनाया। बस वही हमारी रंगशाला थी।

बम्बई में 19 तमाशा रंगशालाएं थीं। बांगड़ीवाला सेठ और अब्दुल रहमान सेठ बड़े ठेकेदार थे। आज कमाठीपुरा (बम्बई का वेश्यावृत्ति क्षेत्र) में जितने भी सिनेमाघर हैं वह सब उन दिनों तमाशा रंगशालाएं थीं। अब्दुल रहमान सेठ ने पूरी की पूरी बटाट्चाची चॉल खरीद ली थी। उसके सब कलाकार वहां रहते थे। श्रमजीवी वर्ग के परिवार तमाशा देखना पसन्द करते थे। सिनेमा मध्यवर्गीय परिवारों की पसन्द था।

बांगड़ीवाला सेठ इतना अमीर था कि मुहर्म के दिन वह चांदी का ताबूत निकालता था। उसका दिल बहुत बड़ा था। जब धन इकट्ठा हो जाता तो वह सारे पैसे एक डिल्ले में डाल कर उस पर बैठ जाता जैसे-जैसे कलाकार उसके पास आते जाते वह बिना गिने मुट्ठीभर पैसे उन्हें देता जाता था।

श्रमिक लोगों को हल्का-फुल्का मनोरंजन पसन्द आता है। मध्यवर्गीय लोगों की रुचि शास्त्रीय संगीत सुनने, किताबें पढ़ने में होती है। मजदूर लोग लोक संगीत और मध्यवर्गीय लोग नाट्य - संगीत पसन्द करते। हमारा रंगमंच किसी भी आन्दोलन से जुड़ा न था। हम सिर्फ हल्का - फुल्का मनोरंजन पेश करते थे। हमारे दर्शक श्रमजीवी लोग होते। जब मध्यवर्ग

के लिए मंचन होता तब हम 'बैठकीचा' तमाशा पेश करते थे। इसमें कलाकार बैठकर गाते थे। कारीगरों के लिए बहुरंगी तमाशा पेश किया जाता। इसमें नाच - गाना और संवाद भी होते। यह शैली ग्रामीण क्षेत्रों में लोकप्रिय थी। प्रस्तुति का कोई आलेख नहीं होता था। मौके पर ही बात में से बात निकलती थी। उदाहरण के लिए अगर राजा हरिश्चंद्र की कहानी कही जा रही हो तो कलाकार उसके बारे में तो सब जानते ही था। बस वहीं मौके पर ही तत्काल अपना संवाद बोल देता। तारामती को भी मालूम रहता। हालांकि सामयिक संवाद भी बोले जाते थे। भाषा और गीत बोलचाल की भाषा में होते और लोक संगीत का ही उपयोग होता था। पहले महाराष्ट्र में खुले स्थानों पर मेलों, त्योहारों पर ही तमाशा पेश किया जाता था। इन प्रस्तुतियों को देखने गांव के विशिष्ट वर्ग, जैसे ब्राह्मण, व्यापारी और सरकारी नौकर लगभग नहीं जाते थे। गांव, कलाकारों को अग्रिम अदायगी के रूप में सुपारी और नारियल देता था। ठेकेदार बाद में आते थे और वे ही बिचौलिए होते थे। ऐसा शहरों में होने वाली प्रस्तुतियों में विशेष रूप से होता था।

मिल में काम करने वाले लोगों को रंगमंच से व्यारथा। शुरू शुरू में ये लोग कोकण के थे। उनके पास बहुत कम जमीन होती थी। नौकरी तो मुश्किल से मिलती। इसलिए वे बम्बई से जुड़े थे। पूरा का पूरा परिवार मजबूरन बम्बई आ जाता था। सब अपनी-अपनी नाटक मंडली बना कर मजदूरों की समस्याओं पर नाटक करते थे। कोकण की स्थानीय शैली 'दशावतार' थी - यह रंगकर्म के नजदीक थी। प्रस्तुतियां हमारी संस्कृति के नजदीक की लोककथाओं और वीरगाथाओं पर आधारित होतीं। 'तमाशा' के विपरीत यहां महिलाओं की भूमिकाएं पुरुष ही निभाते। आज भी ऐसा ही होता है। बाल गंधर्व की तरह महाराष्ट्र के बहुत से गायक, महिलाओं की इन भूमिकाओं के लिए मशहूर हो गए। सिनेमा के आगमन से रंगकर्म कम हुआ था। उसके

बाद महिलाएं इस ओर आईं। दक्षिण कोंकण में जिसे 'दशावतार' कहते हैं उसे ही उत्तर में 'नमन' कहते हैं। राजापुर जिले में इसे 'खेले' कहते थे। हालांकि वास्तविक शैली में कोई खास अन्तर न था। उत्तर कोंकण में तमाशा की एक शैली थी - 'गम्मत'। वे 'झाखड़ी' या बाल्या नृत्य भी करते। यह एक ऐसा नृत्य है जिसमें लड़कों का एक दल एक पैर में पर धुंधरू बांधकर एक दायरा बना कर नाचता है। मिलों में यह नृत्य बहुत पसन्द किया जाता था।

कोंकण के लोग इन शैलियों को बम्बई ले आए। होली या दिवाली पर दशावतार रंगमंडलियों को बम्बई आमंत्रित किया जाता। वे एक-दो स्ताह यहां रह कर हर रोज प्रस्तुतियां देते। घाट में प्रचलित शैलियां 'दशावतार' की तरह थीं। इन्हें वायामुरली नाम से जाना जाता था। इनका संदर्भ उन लड़के-लड़कियों से होता था जिन्हें खंडोबा देवता को 'भेट' कर दिया जाता था। (खंडोबा-भगवान शिव के एक अवतार था) गोंधल या भारुड और ताउत भक्ति गीत थे। इन दलों को गांव से पूजा और नामकरण आदि के लिए बुलाया जाता था। कोंकण और देश से आमंत्रित लोगों के रहने की जगह अलग-अलग होती थी। इसलिए प्रस्तुत की जाने वाली शैलियां भी क्षेत्र पर निर्भर करती थीं।

बहुत से भजन मंडल होते थे। पूरी रात चलने वाली भजन प्रतिस्पर्धाएं होती थीं। तब प्रस्तुति के लिए पुलिस की अनुमति नहीं लेनी पड़ती थी। न ही रात को घर लौट रहे दर्शकों को कोई खतरा होता था।

हनुमान थियेटर में हम सिर्फ तमाशा प्रस्तुत करते थे। अधिकतर दर्शक घाट के पुरुष होते थे। कोंकण के कुछ पुरुष बस यूँ ही यह देखने आ जाते कि हो क्या रहा है। हमारे तमाशा में बानस नाम के 10-12 दल होते थे। दलों की पहचान मुख्य नर्तकी के नाम से होती थी। उदाहरण के लिए यमुनाबाई वायकर या शेवतांबाई जेजूरीकर। दोनों ही प्रसिद्ध तमाशा कलाकार थीं। कार्यक्रम शाम आठ बजे शुरू होकर सुबह चार बजे समाप्त होता था। छुट्टी के

दिन मजदूर शाम छह बजे से ही लाइन में लग जाते थे। कभी कभी वह रात का खाना भी न खाते या फिर वह शाम चार बजे खाना खा कर आते। हमारा तमाशा वर्षा भर पेश किया जाता। 'दशावतार' और 'नमन' सिर्फ त्योहारों के दौरान पेश किया जाता था।

महिलाएं रंगशाला में नहीं आती थीं। एक कारण यह भी था कि शहर में पुरुष अकेले रहते थे। हालांकि गांव में कुछ महिलाएं प्रस्तुतियां देखने जाती थीं। ऐसा इसलिए भी था कि गांव में मनोरंजन का कोई साधन न था। महिलाएं मेलों में जाती थीं। वहीं पर मनोरंजन भी हो जाता था। एक ही तमाशा में कई आइटम होते थे। एक था संगीत बान। दर्शकों में से कोई एक सिक्के की पेशकश करके किसी नाच या गाने की फरमाइश कर सकता था। गाने या नृत्य के बाद कलाकार उस पुरुष से सिक्का ले लेती थी।

अब बहुत कम मिलें काम कर रही हैं। श्रमिक भी कम हो गए हैं। इसलिए हमारे दर्शक लुप्त हो गए हैं। तमाशा कलाकारों का जीवन दूधर हो गया है। ऐसा लगता है कि यह कला समाप्त हो गई है। राजनैतिक दलों के युवा नेताओं को इन कलाओं में कोई रुचि नहीं है। उन्हें इस सब से कोई वास्ता नहीं है। जो मैदान हमें पहले उपलब्ध रहते थे वह भी अब नहीं है। न तो राज्य और न ही किसी आन्दोलन से हमें कोई संरक्षण मिलता है। इस क्षेत्र में अगर कोई मनोरंजन आज है तो वह है ऑर्केस्ट्रा। जब शिव सेना सत्ता में थी तब उसे उस मराठी संस्कृति के लिए कुछ करना चाहिए था जिसके बारे में वह बहुत कुछ कहती है। पर शिवसेना ने कुछ नहीं किया। उन्होंने मराठी लोक शैलियों में तमाशा या लोक उत्सव कभी भी आयोजित नहीं किए।

हम कलाकारों को भी लोगों की पसन्द पर निगाह रखनी चाहिए। इसके अलावा हमें लोगों में नई रुचियां पैदा करनी चाहिए। हमें अभिव्यक्ति और साहित्यिक गुणवत्ता पर ध्यान देना चाहिए। हम अपनी थाली में 50 चीजें भरने के बजाए कम चीज़े परोसें और वे ऐसी चीजें हों जो स्वादिष्ट हों।

मैं युवाओं के लिए तमाशा कार्यशालाएं आयोजित करता हूँ। मैं तमाशा में भाग लेने वाली विख्यात महिला कलाकारों को बुलाता हूँ। मुझे महसूस हो रहा है कि आज भी पारम्परिक शैलियां सशक्त हैं। उन दिनों मेरे गांव में हनुमान जयन्ती के दौरान नाटक और श्रावण महीने में पूजाओं का आयोजन होता था। मैं नाटकों में हिस्सा लेता था। मेरे अंकल निर्देशक होते थे। पहले पहले मुझे स्त्रियों की भूमिकाएं दी जाती थीं। बाद में मुझे दूसरी भूमिकाएं दी जाने लगीं। लोगों ने मुझे पहचानना शुरू कर दिया था। मैं भजन मंडलों में भी गाता था। मैंने ताल और रागों की भी शिक्षा ग्रहण की। विश्वास नारवेकर मेरा मित्र था। उसने मुझे गणपति समारोह के एक नाटक में शामिल किया।

नाटकों का मंचन गिरगांव और गिरणगांव में होता था। हर चॉल में आयोजित कार्यक्रमों में हमारे नाटक मंचित होते थे। भजन मंडलों में बहुत दर्शक होते। ऐसा धार्मिक कारणों से नहीं होता था बल्कि यह वक्त गुजारने का अच्छा तरीका था। उन दिनों मनोरंजन का और कोई जरिया न था। टी.वी. तो छोड़िए रेडियो भी कम लोगों के पास होता था। अगर किसी के हाथ में ट्रांजिस्टर होता तो लोग उसे धूरते।

उन दिनों की बात ही और थी। ये सब गतिविधियां एक तरह से सामुदायिक कार्यक्रम होते थे। आज हम अलग - अलग दुनिया में रहते हैं। इसी के फलस्वरूप हमारी कोई उपलब्धि नहीं है - न संस्कृति में और न ही राजनीति में। एकता नाम की कोई चीज नहीं है। मुझे सेन्चुरी मिल्स में नौकरी मिल गई। मैंने इतने नाटकों में भाग लिया है कि मुझे नाम भी याद नहीं है। 40-50 नाटक अलग - अलग मिलें पेश किया करतीं। ये नाटक प्रतियोगिता का हिस्सा होते। मेरे सेन्चुरी मिल्स में नौकरी के पहले ही साल इस प्रतियोगिता में हमारे नाटक ने द्वितीय पुरस्कार जीता था। उससे अगले साल हमने पहला पुरस्कार जीता था। ये प्रतियोगिताएं बहुत ही प्रतिष्ठित होती थीं। बहुत से मशहूर और प्रतिभाशाली लोग इन नाटकों में भाग लेते थे। मिलों में काम करने वाले अनेक

लोग उच्च कोटि के कलाकार बन गए गणेशोत्सव के दौरान प्रस्तुत नाटकों के फलस्वरूप मशहूर हो गए।

मिलों में पेश किए जाने वाले नाटकों के लिए मिल मालिक संगठन धन दान स्वरूप देता था। उनको सभी मिलों से धन मिलता था। कलाकारों को काम से छुट्टी मिलती थी। नाटक के समापन के अगले दिन पूरे दिन की छुट्टी मिलती थी। मिल मालिक और श्रमिक कई काम आपस में मिलकर करते थे। ऐसा 1982 की हड़ताल तक जारी रहा। हड़ताल के बाद मालिकों और कारीगरों का रवैया बदल गया। आपसी रंजिश हो गई। मालिकों की गतिविधियों को प्रोत्साहित करना बन्द कर दिया। उनका कहना होता 'इतने अभिनेताओं की जरूरत नहीं है। कम से काम चलाओ।' मिलों को नुकसान उठाना पड़ रहा था। खर्च करने के लिए उतना पैसा न था।

उन दिनों मिलों में काम करने वाले लोग रंगमंच के इतने शौकीन थे कि इटिकटों के लिए भगदड़ मच जाती थी। श्रमिकों की संख्या 17,000 थी और सभागार में सिर्फ 800 से 900 लोगों के लिए जगह थी। हम एक अतिरिक्त शो करते। प्रतियोगिताओं के दौरान तो एक भी सीट खाली न होती। पूरे के पूरे परिवार नाटक देखने आते। वे नाटकों की तारीफ करते। आलोचना भी करते। जो श्रमिक नाटकों में अभिनय करते वे भी उत्साहित रहते। एक श्रमिक जो दिन में करघे पर काम करता वह रात को राजा की भूमिका में होता।

मिलों में पेश किए गए कई नाटक राज्य स्तरीय प्रतियोगिताओं में भेजे जाते। मिलों में खेले गए नाटकों को बढ़िया नाटक माना जाता था। हमने बहुत से इनाम जीते। हमारे नाटकों में वही श्रमिक भाग ले सकता था जिसने मिल में 307 दिन काम किया हो। इसे एक साल माना जाता था। यह एक कड़ा नियम था।

★ बाजीराव पोपलकर (45 वर्ष) सेन्चुरी मिल्स में कार्यरत एक प्रतिभाशाली अभिनेता। मिल रंगमंच से अपना जीवन

शुरू किया। बाद में व्यावसायिक रंगकर्मी और टेलीविजन का कलाकार बन गया। अपने परिवार के साथ सेन्चुरी मिल्स की चॉल में रहता है।

सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन

नाटक, संगीत, रंगमंच, कला और संस्कृति का दैनिक जीवन के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन से नजदीकी रिश्ता होता है। गिरणगांव कोई अपवाद न था। जिन संस्थाओं की चर्चा हो चुकी है उनके अलावा दो और संस्थाओं का असर स्थानीय समुदाय पर रहा। पहले थे मजदूर संघ और दूसरे थे राजनैतिक दल। जिन राजनैतिक दलों के अपने - अपने सांस्कृतिक दल थे और जिन्होंने क्षेत्र की समृद्ध सांस्कृतिक जीवन शैली को प्रभावित किया वे हैं - कांग्रेस जिसने देश में स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व किया, और 1928 के बाद वामपंथियों ने मिलों में कार्यरत श्रमिकों का यूनियन (देश में सब से शक्तिशाली मजदूर संघकों बनाया।) 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेस से अलग हुए समाजवादी और आंबेडकर के अनुयायी (45) जिनकी दलितों पर पूरी पकड़ थी, प्रभावशाली बने।

गिरणगांव बहुत से राजनैतिक आन्दोलनों का मंच रहा। यहां के लोग स्वतंत्रता संग्राम के प्रमुख भागीदार थे। इन्होंने बाद में संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन का साथ दिया। गिरणगांव में छह असेमली चुनाव क्षेत्र हैं। इस तरह यह एक संसदीय चुनाव क्षेत्र बन जाता है। इस तरह यह हर राजनैतिक दल के लिए महत्वपूर्ण क्षेत्र बन जाता है। यहां समुदाय इतना विशाल, सुव्यवस्थित और संगठित था और वहां अनेक संस्थाएं सक्रिय थीं सो जाहिर है यह बहुत से दलों के लिए एक युद्ध क्षेत्र था। गिरणगांव की कला और संस्कृति पर इन तत्वों का असर पड़ा अनिवार्य था।

महाराष्ट्र की सांस्कृतिक शैलियों का विकास राजसी संरक्षण के फलस्वरूप नहीं हुआ। इसके लिए जिम्मेदार है लोगों का समर्थन (46) महाराष्ट्र में कला, संस्कृति और सांस्कृतिक शैलियों के विकास में धर्म और कर्मकाण्डों

के अलावा सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। महाराष्ट्र के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अंग है- सुधारवादी आन्दोलन। इसकी शुरुआत हर्ब ने 1873 में ज्योतिबा फुले के सत्यशोधक समाज की स्थापना की। उनकी चिन्ताएं जाति और लिंग - भेद पर केन्द्रित थीं। सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलनों ने पिछली सदी में सबसे ज्यादा इस्तेमाल 'तमाशा' का किया। ऐसा विशेष रूप से 'पोवाडा' अंग के सहारे किया गया। समाज सुधारकों और आंबेडकर के अनुयायियों ने अपना संदेश तमाशा के माध्यम से दिया। फुले ने 'तमाशा' से लावणी को हटा कर उसका इस्तेमाल किया। वे मानते थे कि लावणी महिलाओं के संदर्भ में अपमानजनक थी। इसे सत्यशोधकी तमाशा या सत्यशोधक जलसा नाम दिया गया था। सत्यशोधक उस सर्वव्यापी सर्जक का गुणगान करते थे जो सर्वशक्तिमान है। 'तमाशा' के वार्तालाप अंग 'वाग' में चर्चा होती अन्धविश्वास की, विधवाओं के साथ व्यवहार की, शराबखोरी की, ब्राह्मणवाद की (47)।

1931 में आंबेडकर के समर्थकों ने आंबेडकर जलसा तैयार किया। महाराष्ट्र में लोक संगीत और अभिनय कलाएं पारम्परिक रूप में दलितों का काम माना जाता था। आंबेडकर के समर्थक थे महार जिनका काम था लोक कलाओं, नाटकों में भाग लेना। इसी माध्यम से आंबेडकर की शिक्षा, जात-पात संबंधी विचारों का सन्देश देते थे। 'तमाशा' में वे भगवान गणेश के लिए गाई जाने वाली पारम्परिक प्रार्थना में आंबेडकर का स्तुति गान करते थे।

1948 में समाजवादियों और वामपंथियों ने तमाशा को लोकनाट्य या जनता का नाटक कहा था। इसकी शैली वही थी जो सत्यशोधक जलसे की थी। वामपंथियों की प्रस्तुतियों में गान, प्रार्थना किसानों और मजदूरों को सम्बोधित करके गाई जाती थी। ऐसा पहली बार हुआ कि वामपंथियों द्वारा प्रस्तुत लोकनाटकों में वर्गव्यवस्था के मसलों को उठाया गया।

समाजवादी कवि मध्यवर्ग के शिक्षित और साहित्यिक

लोग थे। वे मध्य वर्ग से सम्बद्ध चिन्ताओं - नैतिकता, छुआछूत, शराबखोरी - पर ध्यान केन्द्रित करते थे। इसके विपरीत इटा और कलापथक जैसे वामपंथी सांस्कृतिक दल मजदूरों की समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करते थे।

वामपंथी और समाजवादी दल तमाशा को लावणी सहित पेश करते थे। ऐसा पहली बार हुआ कि मध्यवर्गीय सक्रिय महिलाएं तमाशा में भाग लेने लगीं। इस तरह मध्यवर्ग के दर्शक भी लोकनाट्य को सराहने लगे। शाहिर अमर शेख, शाहिर अण्णाभाऊ साठे और शाहिर गवाणकर वामपंथी दल के प्रमुख सितारे थे। वे सब श्रमिक पृष्ठभूमि से थे। अमर शेख की आवाज और अभिनय क्षमता इतिहास बन चुकी है। अमर शेख ने बम्बई में अपना जीवन बस में सफाई कर्मचारी के रूप में शुरू किया था। वे हृष्ट-पृष्ठ, लम्बे-चौड़े पुरुष थे। उनके लम्बे - बाल, वाली हाथ में डफ - अमर शेख की ऐसी तस्वीरें गिरणगांव में और महाराष्ट्र के सांस्कृतिक इतिहास में सुपरिचित दृश्य हैं।

अण्णाभाऊ साठे ने लगभग 18-20 तमाशा लिखे और उनमें भाग लिया। साठे ने 7-8 पोवाडे भी लिखे। वे कासेगांव के निकट के एक गांव से आये थे। वे दलित जाति की मातंग समाज से थे। वे बहुत कम उम्र में अपने पिता के साथ पैदल बम्बई आये थे। उस वक्त मिल में हड्डताल चल रही थी। उषा ताई डांगे ने लिखा है 'जब अन्नाभाऊ काम की तलाश में मिल में आया तो मैं और औरतों के साथ गेट पर बैठी थी। मैंने उसे अन्दर जाने से मना किया था। पर वह बाबूद बड़ताल के भीतर चला गया। उसे नौकरी की जरूरत थी।' उसने बाद में लिखा 'मैंने हड्डताल तोड़ने का काम किया। बाद में मैं मजदूरों से मिल गया और मैंने पूरा जीवन वहीं काम किया।'

वामपंथी दल सबसे लोकप्रिय सांस्कृतिक दल बन गया। वह लोगों के वास्तविक मसलों को उठाता था। 'इटा' के साथ थे प्रसिद्ध मराठी कवि नारायण सुर्वे, मुल्क राज आनन्द, अली सरदार जाफरी, साहिर लुधियानवी, दीना पाठक और प्रेम धवन जैसे लोग। उस समय की फिल्मों ने भी मजदूरों

और उनके जीवन को प्रस्तुत किया। हालांकि एक स्थाई दीर्घकालिक सांस्कृतिक आन्दोलन विकसित नहीं हो सका। इसका अगर कोई दोषी है तो वह है दल के नेताओं की अदूरदर्शिता। उनकी प्राथमिकताएं कहीं और ही थीं।

शहर का दिल

गिरणगांव ने एक सौ साल तक अपने जीवनकाल में अपना बेजोड़ इतिहास, संस्थाएं और संस्कृति विकसित की है। द्वीप नगर का सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन शहर के बीचों- बीच था। यह मध्यवर्गीय क्षेत्र था, गिरणगांव की आबादी मजदूर वर्ग की थी। यही वह जगह थी जहां गाने गाए जाते थे। नाटक मंचित होते थे। समाचार पत्र पढ़े जाते थे। मसलोंपर बहसें होती थीं और राजनैतिक लड़ाईयां लड़ी जाती थीं। कपड़ा मिलों में काम करने वालों ने एकता और जागरूकता का एक ऐसा माहौल बनाया कि भारत के श्रमजीवी श्रेणी के इतिहास में सबसे जागरूक और उग्रवादी मजदूर संघ यहीं गठित हुआ। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान इन्होंने सब से ज्यादा निश्चित लड़ाईयां लड़ीं। एक सदी पहले गठित संस्थाएं आज भी जिन्दा हैं हालांकि क्षेत्र में बहुत से बदलाव आ चुके हैं। आधुनिक भारत को कल्पना शक्ति सिर्फ बुद्धिजीवियों ने ही नहीं प्रदान की। हालांकि इसका इतिहास लिपिबद्ध नहीं हुआ पर मजदूरों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है।

गिरणगांव का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन मराठी संस्कृति और दुनिया - भर के श्रमजीवी लोगों, मजदूरों के शहरी जीवन की प्रगतिशील भावनाओं का एक मिश्रण था। यह 'मिश्रित संस्कृति' शहर के बाकी हिस्से में फैल गई। शहर का सांस्कृतिक, और सामुदायिक जीवन कई स्तरों पर गिरणगांव का ही एक विस्तार था। भूतकाल में बात इसलिए हो रही है कि यों तो आज भी प्राचीन मान्यताएं जिन्दा हैं पर आज के सार्वभौमिक बदलावों के चलते इस 600 एकड़ के इलाके में निश्चित रूप से बदलाव हो रहा है। हालांकि आज पुरानी कला शैलियों को जीवित रखे जाने

की कोशिश की जाती है पर जैसा कि कुछ कलाकारों ने कहा भी है दर्शक और उनकी पसन्द बदल गई है। वह संस्कृति जो एक शक्तिशाली बन्धुता पर आधारित थी आज के ज्यादा अजनबीयत भरी नागरिकता के माहौल में अप्रासंगिक हो चुकी है। बम्बई जैसे शहर में ही क्यों पूरे देश में भ्रमपूर्ण, तबाही करने वाले बदलाव हो रहे हैं। इन बदलावों को मापने-जोखने की जरूरत उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। भारतीय याने क्या है? आधुनिक भारत की परिकल्पना में किन बातों का समावेश होता है? जो हमने दाय में पाया है उसमें से कितना हमें सुरक्षित रखना है और कितना पुराना और अप्रयुक्त हो चुका है? किस चीज से हमें आगे बढ़ने में क्या मदद मिलती हैं और ऐसा क्या है जो हमें पीछे की ओर खींचता है? गिरणगांव का इतिहास ये सारे सवाल उठा रहा है।

★ शाहिर कृष्णराव साबले (77 वर्ष) लोकप्रिय गायक, लोकनाट्य निर्देशक-निर्माता, सातारा के निकट एक गांव में लोक कलाकारों को प्रशिक्षण दे रहे हैं। उनका 'महाराष्ट्र दर्शन' सभागारे और टेलिविजन पर दिखाया गया था। उनका गीत 'गरजा महाराष्ट्र माझा', महाराष्ट्र में बेहद लोकप्रिय हुआ था। पुत्री चारुशीला रंगकर्म से जुड़ी कलाकार हैं और बेटा देवदत्त जाना माना संगीत निर्देशक।

मूल रूप से हम किसान थे। पर हमारे पास बहुत कम जमीन थी। मेरे परदादा जे रेल्वे में मजदूर की नौकरी कर ली थी। मेरे दादा वाई में बस गए थे। उन्होंने वहाँ थोड़ी जमीन और मवेशी खरीद लिए थे। मेरा जन्म वहाँ हुआ था। मेरी माँ मुझे पढ़ाना चाहती थी। वे जानती थीं कि हमारे गांव में यह सम्भव न था सो उन्होंने मुझे अपने भाई के पास खानदेश में अमलनेर भेज दिया। वहाँ मामा रेल्वे में फोरमैन थे। उस समय भी मेरी रुचि संगीत में थी। उस समय सिनेमा में 'बोलना' शुरू ही हुआ था। मैं रिकार्ड सुनता और तुरंत उन गानों को गा लेता था। मैं तब दस साल का था। मैं 'संत तुकाराम' और 'गोपाल कृष्ण' जैसी फिल्मों के गाने गा लेता था।

मेरी दादी को यह पसन्द न था। वे कहतीं कि यह गाना- बजाना मुझे भ्रष्ट कर देगा। लेकिन मैं गाना चाहता था। मैं चाहता था कि लोग मेरा गाना सुनें। सौभाग्यवश अमलनेर में बहुत से मशहूर संगीतज्ञ आते थे। मैं उस संस्कृति से प्रभावित था। मेरे जीवन पर दूसरा प्रभाव साने गुरुजी (42) का पड़ा था। वे अमलनेर की उस सड़क पर रहते थे जहाँ से मैं स्कूल जाता था। वे स्कूल के शिक्षक थे पर उनकी रुचि मजदूरों के आन्दोलन में थी। उन्होंने स्कूल की नौकरी छोड़ कर पूरा समय उस क्षेत्र के उन कामगारों को देना शुरू कर दिया जो कपड़ा मिलों में काम करते थे। उनकी मीटिंगों में एस.ए.डांगे और उनकी पत्नी उषा ताई डांगे – जो खुद एक सक्रिय कार्यकर्ता थीं - भाग लेने आते थे। हालांकि गुरुजी वामपंथी न थे पर उनके मंच पर तिरंगा और लाल झंडा दोनों ही मौजूद रहते। एक बार मैं उनकी सभा में गया तो एक कम-उम्र लड़का मंच पर गाना गा रहा था। सब उसकी तारीफ कर रहे थे। मैंने गुरुजी की सभाओं में जाना शुरू कर दिया। ऐसा मैं अपनी दादी की नजर बचा कर करता था। एक दिन मुझे मंच पर गाने को कहा गया। मैंने जवाहर लाल नेहरू की प्रशंसा में गीत गाया था - 'भारत का डंका आलम में बजवाया वीर जवाहर ने, अधीन बनो, स्वाधीन बनो, सिखलाया वीर जवाहर ने।' क्या तालियां बजी थीं! मैंने देश भक्ति के गाने इकट्ठे करने शुरू कर दिए। उनमें से एक था - "चरखा चला - चला के लेगे स्वराज्य, लेगे, नहीं रखना, नहीं रखना अंग्रेजी सरकार।" मैं गीतकार नहीं था पर मैं इन गीतों से बेहद प्रभावित था। मैंने अपनी पढ़ाई में ध्यान देना कम कर दिया। मेरी दादी बहुत नाराज हो गई थीं। वे इतनी नाराज हो गई थीं कि उन्होंने मुझे वार्षिक परीक्षा में बैठने नहीं दिया। इसके परिणामस्वरूप मैं साने गुरुजी, उनके विचारों, उनकी सोच और गतिविधियों के नजदीक होता गया। वे एक साप्ताहिक निकालते थे 'कांग्रेस' मैंने धन एकत्रित करने के लिए और उसके लिए एक नाटक तैयार किया।

मेरी दादी ने मुझे मेरे माँ-बाप के पास वापस भेज दिया। माँ तो मेरा साथ देती थी पर पिता जी कहते 'बेटा तुम क्यों गाना गाते हो ? क्या तुमने वह कहावत नहीं सुनी है - 'ब्राह्मण के घर लिखना, किसान के घर दाना और महार के घर गाना ?' हम पर कर्ज था। पूरे परिवार के खाने के लिए पर्याप्त अनाज न था। मुझे नौकरी ढूँढ़नी पड़ी। मैंने अपनी पढ़ाई पूरी नहीं की थी। मैं सिर्फ मिल में काम कर सकता था सो मैं बम्बई चला गया।

मैं गिरणगांव आ गया और मुझे स्वदेशी मिल्स में बुनकर का काम मिल गया। 1940 में बम्बई की जनसंख्या 14 लाख थी। उन दिनों बम्बई पर श्रमिकों और गिरणगांव का प्रभाव था। सब कुछ बहुत जिन्दा- दिल और पुलकित करने वाला था। बम्बई औद्योगिक केंद्र और महाराष्ट्र का रखवाला था। गिरणगांव में श्रमिक, गिरणगांव और दादर में मध्यवर्ग और बाबू रहते थे। फोर्ट में अफसर रहते थे।

जब गांधी जी ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन,' छेड़ा तब लोग देश - भक्ति के जोश से भर गए थे। लोगों ने नौकरियां छोड़ दीं। अपने कारखाने त्याग दिए और कूद पड़े थे युद्धक्षेत्र में। मैंने अनेक सभाओं में गांधी, नेहरू और दूसरे नेताओं को सुना था। मैंने खुद से पूछा था कि दो वक्त की रोटी कमाने के लिए जीना भी भला कोई जीना है? मुझे लगा मुझे कुछ करना चाहिए। मैंने दो - तीन और लोगों को साथ लेकर, अपनी नौकरी छोड़कर अपने ही कला पथक का गठन किया था। मैंने पोवाड़ा (43) गाथा गीत और समूह गीत इकट्ठे करने शुरू किए। हमने अनपढ़ ग्रामीण लोगों को स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रति जागरूक करना शुरू किया। हम गीत गाते - (36)'साहिब, अपना बिस्तर गोल करो और वहीं लौट जाओ जहां से आए हो। हम एक सौ पचास साल से तुम्हारी शेखियां सुन-सह रहे हैं, हमारे बन्दरगाह से अपने जहाज हटा लो, जहां से आए हो वहीं लौट जाओ।

फिर मैंने 'गोपाल कृष्ण' फिल्म के गाने को आधार बनाकर तिरंगे झंडे पर एक गीत लिखा। यह बहुत सरल गीत

था। साने गुरुजी मुझे प्रोत्साहित करते, मेरी प्रशंसा करते। मुझे वह इतना सब रचनात्मक नहीं लगा। बाद में मैं खानदेश लौट गया। वहां मैं शानदार पोवाड़ा -गाथागीत पेश करता। लम्बे समय तक मैं बम्बई और खानदेश आता - जाता रहा।

उन दिनों बहुत से कवि और गायक थे पर स्वतंत्रता संग्राम से बहुत कम लोग जुड़े हुए थे। सब ऐतिहासिक विषयों पर लिख रहे थे। फिर कुछ लेखक थे जो क्रांतिकारी गीत लिखते तो थे पर चोरी - चोरी। वे सरकारी नौकर थे। वह बाबू गेणू (44) शिरीष कुमार जैसे शहीदों के बारे में लिखते थे। ब्रितानी सरकार धार्मिक पोवाड़ा पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकती थी इसलिए वे ऐसी भाषा में लिखते थे जो प्रतीकात्मक होती थी। वह कीचक जैसे राक्षस के बारे में लिखते तो लोग समझ जाते कि यह राक्षस अंग्रेज शासक है। मशहूर कवि बंगाल के अकाल, शहीदों, आजादी जैसे विषयों पर गीत लिख कर शाहिरों को गाने के लिए दे देते थे। स्वतंत्रता दिवस पर मैंने अपने झंडे पर गीत लिखा था, विभाजन के बाद मैंने एक गीत सामुदायिक दंगों पर लिखा था। मैं किसी दल का सदस्य नहीं था सो आजादी के बाद मैं अलग- थलग सा कर दिया गया था। मेरे नेता तो साने गुरुजी थे। मैंने दोबारा मिल में नौकरी कर अपने परिवार की देखभाल करने की सोची। मेरे मैनेजर ने हाथ जोड़ कर ताना देते हुए कहा 'अब तो आप लोग मालिक हो। आपको नौकरी क्यों करनी है?' उसने मुझे गांव वापस भेज दिया।

मैं बेरोजगार था, अनपढ़ था। मैं सड़क पर था। मैंने लोगों को जमा करके एक और कला पथक गठित किया। लिखने के लिए आपके पास ज्ञान, शिक्षा और लिखने की क्षमता होनी चाहिए। मुझे सीखना पड़ा। अब हमें नई तरह का संगीत गाना था। हमने मनोरंजन के लिए लोक गीत गाने शुरू किए। सन्देश देने के लिए मैंने हास्य का इस्तेमाल किया। यह लोकनाट्य शैली थी जिसमें आधुनिक विषयों को तमाशा शैली में पेश किया जाता। उदाहरण के लिए, मेरे एक नाटक

में देवता लोग नारद मुनि के साथ स्वर्ग से उतरकर धरती पर आते हैं। जब वे धरती की हालत देखते हैं तो उन्हें समझ में नहीं आता कि वे क्या करें। शिवजी को तांडव नृत्य करने को कहा जाता है पर वे तांडव नृत्य भूल चुके होते हैं। उन्हें पर्वतारोहण करने वालों ने हिमालय से निकाल दिया है। अब शिव जी ब्रेक डान्स सीख रहे हैं। नारद हर पापी को ब्रह्मा के समक्ष पेश करता है - धार्मिक कट्टरपंथी, राजनेता और वह आदमी भी पेश किया जाता है जो अपनी बेटी के लिए दहेज इकट्ठा कर रहा है।

जब मद्य निषेध लागू किया गया तो मैंने एक नाटक प्रस्तुत किया 'चित्रगुप्त के दरबार में शराबी' स्वर्ग का चौकीदार चित्रगुप्त मुझसे पूछता है 'तुम कैसे मरे?' मैं उन्हें बताता हूँ 'मैं हर रोज एक चौथाई बोतल शराब पीता था। आज मेरी बोतल खत्म हो गई तो मैं गर्ट में गिर गया और इस तरह मैं यहां पहुंच गया हूँ।' मैंने शराबी बनने की अपनी दास्तान सुना कर अपना सन्देश दिया। लेकिन मुझे लगता है इस नाटक का कोई असर नहीं हुआ। लोग चोरी- छिपे शराब पीते रहे। चूंकि हमने इस विषय पर इतनी बातें की इसलिए शायद लोग ज्यादा पीने लगे। शराब पर प्रतिबन्ध लगने से अवैध शराब बनाने वालों का लाभ हुआ। पैसा कमाने का यह एक अच्छा तरीका था। काले धन में वृद्धि हुई। अवैध शराब बनाने वालों ने खुले स्थानों पर कब्जा कर लिया। वहां उन्होंने अपनी फैक्टरियां लगाई। माफिया दलों में वृद्धि हो गई। वे लोग गरीबों से पैसा ऐंठते। बेघर लोगों को झुग्गी-झांपड़ी बनाने में मदद करने के बहाने जमीन हथियाते।

राजनीति और संस्कृति में नजदीकी रिश्ता था। लेखक और कलाकार का काम होता है समाज को शिक्षित करना और उसे सुधारना। एक नाटक में मैंने लिखा था 'गुमराह कैसे हो गए?' इस नाटक में एक सरपंच एक गरीब किसान से कुआं खोदने के लिए ऋण के लिए हस्ताक्षर करवा लेता है। सरपंच सारे पैसे एक तमाशावाली पर उड़ा देता है। तमाशेवाली को किसान से प्यार हो जाता है और वह उससे

ब्याह कर लेती है। तमाशेवाली किसान से कचहरी में मामला दर्ज करवा देती है। इस नाटक का आखिरी गाना बहुत लोकप्रिय हुआ था।

आधुनिक शाहिर को वह संरक्षण नहीं मिलता जो कवियों को राजदरबारों में मिलता था। लोकप्रिय आन्दोलनों में ही आधुनिक कवियों को अपना मुकाम मिलता है। पुराने जमाने में कवियों का काम था राजा का गुणगान करना। आज उसे संरक्षण मिलता है लोगों से। आज वह उन्हीं समस्याओं पर नाटक लिखता है।

अब तो सब कुछ बह गया है। सांस्कृतिक आन्दोलन तो लगभग मृत हो चुके हैं। आज शाहिर भूखे मर रहे हैं। अगर समाज और सरकार उनकी मदद नहीं करेगी तो वे जिन्दा नहीं बच सकते हैं। पहले मैं हर शाम कार्यक्रम पेश करता था। अब दो महीने में मुझे एक प्रोग्राम मिलता है। शहर से मराठी संस्कृति तो लुप्त हो चुकी है। टी.वी. ने सब कुछ हथियां लिया है। हर रोज, एक नया चैनल खुल जाता है। सड़कों पर मराठी सुनाई नहीं देती है। सिर्फ हिंदी ही सुनने को मिलती है। अब हमें विदेशों से न्यौते आते हैं पर बम्बई में बहुत कम प्रोत्साहन मिलता है।

★ मधुकर नेराले (65 वर्ष) लालबाग में हनुमान थियेटर के मालिक।

अण्णा भाऊ साठे और अमर शेख ने लोकनाट्य की जो शैली विकसित की वह तमाशा और नाटक का मिश्रण था। क्योंकि लोकनाट्य लोगों की मनपसन्द शैली है। इसलिए वे तमाशा का सहारा लेकर आम आदमी की समाजिक और राजनीतिक समस्याओं की बात करते थे। आचार्य अत्रे और नारायण सुर्वे जैसे लेखक लोकनाट्य लिखते और अमर शेख व अन्य कलाकार इन्हें मंचित करते थे। वे एक महान कलाकार थे। जब वे मंच पर जाते तो यह सामान्य-सा प्राणी आग का गोला बन जाता और हर कोई राख बन जाता।

आम लोगों के बीच वामपंथी दल की विचारधाराप्रसारित करने का काम अमर शेख, गवाणकर और अण्णा भाऊ साठे

ने बखूबी किया। अण्णाभाऊ एक लोकप्रिय गीत गाया करते थे जिसका भाव था ‘मेरी प्रिय पीछे हमारे गांव में है, मेरा दिल उसके लिए तड़पता है।’ लोग इस गीत को बेहद पसन्द करते थे क्योंकि वे भी शहर में अकेले थे। बहुत- से गीत मजदूरों की समस्याओं और राजनैतिक मसलों पर होते थे। जरूरत लोगों में उत्साह पैदा करने और उन्हें एकजुट करने की थी। इस माध्यम से वामपंथी लोगों तक पहुंच पाते थे। बेशक समाजवादियों के भी अपने लेखक थे पर वे मजदूरों की मूल समस्याओं को उठाते नहीं थे। वे नैतिकता और सदाचार की बात करते थे।

गिरणगांव के शाहिरों ने स्वतंत्रता संग्राम और विशेष रूप से संयुक्त महाराष्ट्र जैसे राजनैतिक मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित किया। इस आन्दोलन को कवियों और शाहिरों के कारण ही समर्थन मिला। कवि लिखते थे और शाहिर गीतों को गाते थे। अण्णाभाई साठे के गाने ‘मुम्बाईची लावणी’ में उन दिनों की बम्बई का वर्णन था। यह गीत बहुत लोकप्रिय हुआ था। पट्टे बाबूराव ने भी बम्बई के बारे में गीत लिखा था पर वह स्वतंत्रता पूर्व बम्बई के बारे में था। अण्णाभाई ने मजदूरों की बम्बई के बारे में लिखा था। ये व्यावसायिक लोग न थे इसलिए दूसरों की तरह ये ज्यादा पैसे नहीं मांगते थे। महिलाएं भी इन कार्यक्रमों में भाग लेती थीं। यह समाजवादी और वामपंथी दलों की सक्रिय कार्यकर्ता थी। मराठी सिनेमा में मशहूर हुए दादा कोंडके गिरणगांव के थे। उन्होंने अपने लोकनाट्य ‘बिच्छा माझी पुरी करा’ (मेरी इच्छा पूरी करो) में इसी शैली का इस्तेमाल किया था। सिनेमा ने भी तमाशा का उपयोग किया। लोकनाट्य 70 और 80 के दशक तक लोकप्रिय था, पर अब उसका कोई मूल्य रह गया नहीं है।

★ वसन्त भोर (70 वर्ष), कपड़ा मिल मजदूर संघ की प्रमुख नेता स्वर्गीय पार्वतीबाई भोर, सेवानिवृत्त के पुत्र। बम्बई के निकट थाने जिला में निवास। वामपंथी दल के सांस्कृतिक दल के प्रमुख सदस्य। दल छोड़ने के बाद भी बहुत से नाटक

तैयार किए। यादों का एक अम्बार है जिसे सहर्ष हमारे साथ बांटा।

मैं 16 साल का था और छठीं क्लास में था जब मेरे पिता जी का देहान्त हो गया। मेरी माँ ने फैसला किया कि सब नौकरी करके कमाई करेंगे। मैंने सातवीं कक्षा के बाद पार्टी के प्रेस में नौकरी कर ली। पार्टी में नौकरी पाने के लिए आपका वामपंथी होना जरूरी न था। पर वहां काम करते - करते कोई भी उस ओर झुकने लगता। वहां नौकरी पाना बहुत मुश्किल था। वेतन भी बहुत कम था। मेरा भाई वहां नौकर था इसलिए मुझे काम मिल गया। मैं नौ से छह बजे तक काम करता और रात को पढ़ने जाता।

मैं दो बार जेल गया। मेरी माँ मजदूर संघ और दल की सक्रिय कार्यकर्ता थी। वह कई बार जेल गई। वर्ली जेल में एक कैटीन भी थी। हम वहां देर तक बैठे-बैठे धीरे -धीरे खाना खाते। ताकि हम ज्यादा देर तक बैरक से बाहर बिता सकें। जेल समुद्र के नजदीक थी। अमर शेख का गीत तो समुद्र किनारे टहल रहे लोग सुनते थे। यह 1949 के अन्त का समय था। मुझे मेरी एस.एस.सी. परीक्षा से पहले रिहा किया गया था। मैं परीक्षा में फेल हो गया।

मैं उषा डांगे और अपनी माँ का सन्देश वाहक था। मैं नेता नहीं बनना चाहता था। मैं राजनैतिक साहित्य कम पढ़ता था। हाँ दैनिक अखबार मैं जरूर पढ़ता था। मेरी माँ को पढ़ने का शौक था। मेरे भाईयों को उनसे यह अच्छी आदत मिली। नारायण सुर्वे दफ्तर का काम देखता था। मेरा भाई और सुर्वे अच्छे दोस्त थे। वही सुर्वे को दल के दफ्तर तक लाया था। जहां तक मुझे याद है यह मेरी माँ ही थी जिसने उसे नगर निगम में नौकरी दिलवाई थी।

वामपंथियों में तीन तरह के लोग होते हैं। कुछ बड़े लोग होते हैं जो चॉल में नहीं रहते। वे जो भी सम्भव होता है करते हैं। दूसरे वे जिनकी अपनी कमाई होती है और वे पार्टी के लिए निःशुल्क सेवा करते हैं। तीसरी श्रेणी में मेरी माँ जैसे लोग आते हैं। वे ज्यादा पढ़े लिखे नहीं होते।

लालबाग की चाल में रहते हैं और दल के लिए पूरा वक्त काम करते हैं। मध्यवर्गीय महिलाएं उतनी ज्यादा सक्रिय नहीं होतीं। वे वामपंथी बन भी जाएं उनके तौर तरीके अलग से ही बने रहते हैं। दल ने मेरी माँ जैसी कार्यकर्ता को पहचाना, उसे तरक्की दी। मिलों में काम करने वाली औरतें भी इन दो तरह की महिलाओं की मानसिकता समझती हैं। मेरी माँ को सब जानते थे। पार्टी हालांकि छोटी थी पर संगठित थी। गिरणगांव में सब एक समुदाय में इकट्ठे रहते थे। सब अपना -अपना काम खुद करते थे हालांकि खाना पकाने वाला व्यक्ति होता था पर सब एक साथ खाना खाते। प्रसिद्ध फिल्मी सितारे बलराज साहनी, प्रसिद्ध उर्दू शायर कैफी आजमी सब वही रहते थे। विवाहितों को अलग कमरा मिलता। सदस्यों के बीच एक बन्धन था। दल में अलग- अलग काम लोगों को सौंपे गए थे। दीना गांधी जो बाद में दीना पाठक के रूप में फिल्मी अदाकारा बनीं शाखा की देखभाल करतीं - यहां बच्चों को रखा जाता था। पार्टी का सांस्कृतिक दफ्तर परेल में था। एक बार अहमदनगर से दो भूमिगत कॉमरेड पुलिस से बचते -बचाते आए थे। उन्हें अगले दिन डांगे के पास ले कर जाना था। पुलिस ने उन्हें पकड़ कर भायखला जेल में बंद कर दिया। उनके साथ मैं भी पकड़ा गया। मेरी उम्र सिर्फ 18 साल की थी। हमें डाकू और खूनी घोषित किया गया था। मुझे कालकोठरी में रखा गया था। मैं वहां सात-आठ महीने रहा था। मुझे दिन के सिर्फ एक घंटा बैरेक से बाहर आने की इजाजत थी। बैरेक में शौचालय न था। कमरे में ही एक पॉट रखा रहता था।

उन दिनों बहुत लोग गिरफ्तार हुए थे। उनमें एक वाघ गुरुजी थे, उन्होंने मुझे पढ़ाई करने की सलाह दी। मजदूर वर्ग में घर के लोग पढ़ाई को कोई महत्व नहीं देते थे। मेरी माँ को तो यह भी नहीं पता था कि मैं कौन सी क्लास में हूँ। मुझे भी पढ़ने का शौक न था। पर गुरु जी ने मुझे प्रेरित किया। उन्होंने कहा 'अगर तुम पढ़े- लिखे नहीं तो कोई पूछता नहीं' जेल में

सब कॉमरेड मुझे पढ़ाने लगे। जेल में मैं इकलौता छात्र था। एक-एक ने मुझे एक-एक विषय पढ़ाया। इस तरह जेल से छूटकर 1951 में मैंने एस.एस.सी. की परीक्षा पास की।

जेल में मुझे दो लोगों ने प्रभावित किया।

एक थे कृष्णा देसाई (48) और बाद में फिल्मों में मशहूर हुए हिन्दी गीतकार मरुसुह सुल्तानपुरी। वे सप्ताह में दो बार सबके लिए बहुत बढ़िया खाना पकाते थे। ये निजी बातें हैं जो याद रह जाती हैं। जब लोग शतरंज खेलते तो कृष्णा देसाई बहुत चिढ़ जाते थे। फिर उन्होंने खुद शतरंज खेलनी सीख ली। वे हर एक को हरा देते थे।

जेल में हमारे साथ एक गुंडा था गुलबाबू। वह घर से खाना मंगवाता था। हमारे हिस्से का भी खाना मंगवाता। बाद में उसने कॉलेज की पढ़ाई के दौरान मेरी मदद की थी।

मुझे सांस्कृतिक गतिविधियां अच्छी लगती थीं। मैं अमर शेख के दल में काम करने लगा। गांव, जत्रा आदि में कार्यक्रम पेश करने के लिए मुझे बीस रुपए मिलते थे। पार्टी के लिए होने वाले प्रोग्राम में कोई फीस नहीं मिलती थी। सार्वजनिक बैठक हो या कोई मेहमान आनेवाला हो तो हम दर्शक जुटाने के लिए गाना गाते। भाषणों के बाद तमाशा की घोषणा पहले ही कर दी जाती थी ताकि भाषण के दौरान दर्शक चले न जाएं। मुझे नहीं पता कार्यक्रम के आयोजक से क्या तय होता था लेकिन हमें तो अदायगी अमर शेख ही करता। हमने कई बार महाराष्ट्र के दौरे किए।

विशेष त्योहारों, मई दिवस या फिर किसी के जन्म दिन पर कामगार मैदान या नरे पार्क में भाषणों, सभाओंका आयोजन होता। वहीं कला पथक अपना कार्यक्रम पेश करते। वहां बहुत लोग आते और कार्यक्रम बहुत लोकप्रिय होते थे। कई राजनैतिक गीत लोकप्रिय तो थे पर कईयों को समझ न आते थे। गाने बेशक सरल होते थे। आम लोगों की सहानुभूति सोवियत संघ से थी और जो हम कहते थे वह सरल और दिलचस्प होता था। वामपंथी बहुत सक्रिय थे। वे हर मसले पर प्रतिक्रिया स्वरूप सङ्कोचों पर उत्तर आते थे। यहां तक

पहुंचने तक गिरणगांव के लोगपढ़- लिख गए थे। वे 'नवाकाल और संध्याकाल' जैसे समाचार पत्र पढ़ने लगे थे। ये समाचार पत्र मजदूरों के अखबार माने जाते थे। हालांकि इनके सिद्धान्त प्रगतिशील नहीं थे।

जेल में कृष्णा देसाई और मेरी गहरी दोस्ती हो गई थी। लालबाग में विनायक पाटिल और तुंगारे और हम दोनों ने मिल कर युवा कलाकारों का एक कलापथक गठित किया। नारायण सुर्वे और परब सहित स्थानीय युवा कलाकारों ने मिलकर नृत्य, नाटक और रंगोली प्रदर्शन किए। एक बार हमने रंगोली प्रतिस्पर्धा का आयोजन किया। बलराज साहनी मुख्य अतिथि थे। मैं जब उन्हें लेने गया तो उन्होंने आने से मना कर दिया। ऐसा हमारी भूल से हुआ था। हमने उन्हें आमंत्रित ही नहीं किया था। मैंने कहा 'आप नहीं चलेंगे तो मैं लालबाग में मुंह दिखाने लायक नहीं रहूँगा।' वह चलने को तैयार हो गए पर कहा 'मैं बहुत थका हूँ। मुझे टैक्सी में ले चलो। मुझसे मोटर साइकिल नहीं चलेगी।' लौटते वक्त उन्होंने मेरा नाम पूछा जब उन्हें पता चला कि मैं पार्वती बाई भोर का बेटा हूँ तो उन्होंने कहा 'पहले क्यों नहीं बताया।' उन्होंने मुझसे फिर मिलने को कहा। मैंने सोचा मुझे किल्प उद्योग में काम दिलवा देंगे। मैं मिलने नहीं गया। एक बार वह मुझे कहीं मिल गए और दोबारा मिलने को कहा। मैंने रूपारेल कॉलेज से बी.एस.सी. की और फिर एम.एस.सी.। मुझे वजीफा मिल गया था। गोवा स्वतंत्रता संग्राम पर मैंने एक नाटक लिखवाया था। नाटक था 'ज्वाला'। लालबाग कलापथक की इस प्रस्तुति को बहुत सराहा गया। राज्य स्तरीय प्रतियोगिता में 'ज्वाला' को प्रथम स्थान मिला था। जब मैं अमर शेख के साथ काम कर रहा था तब मैं बेरोजगार था और मेरे पास बहुत वक्त था। वैसे भी अमर शेख के नाटकों के लिए ज्यादा पूर्वाभ्यास नहीं करना पड़ता था।

कलाकार कोकण और घाट से थे। क्षेत्र और जात-पात का कोई भेद-भाव न था। सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण था

योग्यता और प्रतिबद्धता। अमर शेख शोलापुर का एक मुसलमान था। गवाणकर मध्यवर्ग से था। अण्णाभाऊ साठे एक दलित मांग था।

पार्टी का एक केन्द्रीय दल था। इसमें सुपरिचित कलाकार और लेखक थे - बलराज साहनी, प्रेम ध्वन, कैफी आजमी। महाराष्ट्र के स्तर पर प्रमुख थे अमर शेख, अण्णाभाऊ और गवाणकर। वह वामपंथी थे और उनके क्रियाकलापों में उनकी मान्यताएं - विचार धाराएं झलकती थीं। कांग्रेस का इंडियन नेशनल थियेटर था। मामा वरेरकर (49) उनके मुख्य कर्मी थे। उन्होंने मिल मजदूरों पर एक नाटक लिखा था। दूसरे दलों के विपरीत इनके पास बहुत पैसा था। समाजवादियों के पास भी कलापथक थे। इनके सदस्य मध्यवर्गीय लोग थे और ऐसे भी थे जो मूलतः मजदूर वर्ग के थे जिनमें प्रमुख नाम हैं - दादा कोंडके, राम नगरकर और नीलू फूले। सब बेहद ईमानदार, खुदार लोग थे। प्रतिस्पर्धा के बावजूद अलग-अलग राजनैतिक दलों की मंडलियां एक दूसरे का काम देखती, सराहती थीं। हमारा केन्द्रीय दल बाद में दो दलों में बंट गया था। पार्टी में आपसी मतभेद हो गया था जिसका असर सांस्कृतिक दलों पर भी पड़ा। अमर शेख मूल पार्टी के साथ थे और अण्णाभाऊ और गवाणकर साठे दक्षिण पंथी थे। जब दो अलग - अलग दल बनाए गए तो दिया गया कारण कुछ इस तरह था। कहा यह गया कि गतिविधियों को विस्तारित किया जाना जरूरी है। अमर शेख कलापथक की अलग - अलग शाखाओं के कलाकारों को प्रशिक्षण देते। हम जैसे लोगों को वे लालबाग में तो सिखाते ही थे साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में भी जाते। उदाहरण के लिए जब हम मराठवाड़ा जाते तो वे मुख्य भूमिकाएं वहां के स्थानीय कलाकारों से करवाते थे। अमर शेख और मैं गीत गाते थे। चुनावों के दौरान यह जरूरी हो जाता। कार्यक्रम इतने ज्यादा होते थे कि मुख्य दल काम संभाल नहीं पाता था। एक तरह से देखा जाए तो पार्टी नाट्य मंडलियों का इस्तेमाल सिर्फ प्रचार प्रसार के

लिए करती थी। हालांकि हम लोग मुख्य धारा में अपने बल बूते पर पहुंच गए थे। उदाहरण के लिए हमारा नाटक 'ज्वाला' पार्टी की सभाओं में खेला जाता पर इसके माध्यम से हमने राज्य स्तरीय प्रतियोगिताओं में भी खेला। दादर केन्द्र ने तो पुरस्कार भी जीता था। दर्शक मध्य वर्ग के तो थे पर वे सब पार्टी के संदर्भ नहीं थे। शाहिर साबले और मराठी अभिनेता राजा मयेकर का कलापथक डेल्सिले रोड़ पर था। कांग्रेस के मामा वरेरकर का अपना दल था। जब हम गणेशोत्सव में प्रोग्राम करते हैं तो हमें पैसा तो मिलता है पर हम कलाकारों को उनकी फीस नहीं दे पाते। कलाकारों की यह धार्मिक आस्था है और वे रंगमंच के प्रति प्रतिबद्ध हैं।

सिनेमा तब उतना लोकप्रिय न था। 'दशावतार' परम्परा के कारण कोंकण के लोगों को रंगमंच ज्यादा पसन्द था। घाट के लोग तमाशा और लावणी ज्यादा पसन्द करते थे। दर्शक हालांकि अलग - अलग होते थे पर कलाकार दोनों क्षेत्रों के होते थे। पारम्परिक दल घाट या कोंकण के होते थे हालांकि बम्बई में यह भेदभाव मिट गया था। शाहिर साबले घाट का था और मयेकर कोंकण का था। नवरात्री और गणेशोत्सव के दौरान नौ दिन तक कार्यक्रम चलते थे। गर्मियों में सड़कों पर पूजाएं और नाटक हर रोज होता था। भजनों के बाद आधी रात को नाटक शुरू होता। सिनेमा बहुत बाद में लोकप्रिय हुआ था।

फिर अमर शेख एक जगह पर टिक गया। उसे अपने परिवार की देखभाल करनी थी। वह व्यावसायिक हो गया। क्या आवाज थी! उसके जैसा गायक था ही नहीं।

मैंने एम.एस.सी. करके शादी करके कलापथक छोड़ दिया। कपड़ा कारखानों में हर समुदाय के लोग काम करते थे। तेलुगू थे तो उत्तर प्रदेश के भी लोग थे। दंगों के दौरान सब से बुरा हाल बम्बई का हुआ था। शहर में मुसलमान नजर नहीं आते थे। कारखानों में काम करने वाले मुसलमान उत्तर प्रदेश के थे। घाट के मुसलमान किसान थे। ऐसा इसलिए था

क्योंकि घाट में कोंकण के मुकाबले किसानी की बेहतर संभावनाएं थीं। मुसलमान दुकानदारी करने लगे थे। वे अंडे, मुर्गे बेचते थे। कई मजबूरन चोरी चपाटी करने लगे थे। हिन्दू श्रमिक अपने बच्चों को पढ़ाते थे जबकि मुसलमान अपने परिवार को गांव में ही छोड़ देते थे। उनके बच्चे पढ़ लिख न पाते थे।

मैं जब 13 साल का था तब मैं एक चूड़ी बेचने वाले के यहां 40 रुपए महीने पर नौकरी करता था। बीस रुपए तो खानावली को देता। मैं घर भी पैसे भेजता था। खानावल में मुसलमान, हिन्दू, बौद्ध सब धर्म के लोग एक साथ खाना खाते थे। वह चलानेवाली एक हिन्दू महिला थी। सब लोग खूब खाते थे। पर मैं बहुत कम खाता था। वह कहती 'तुम पैसे मत दिया करो, कितना कम खाते हो।' पर मैं पैसे देता था। खानावल में छुआळूत, जात पात का कोई सवाल न था। सब लोग घाट के थे। मैं दामोदर हाल में नाटक देखने जाता था। मजदूर रंगमंच के कार्यक्रम तुसे साल भर के लिए आरक्षित करवा कर रखते थे। मैं मध्यान्तर में अन्दर बिना टिकट जाता था। वहां गेटकीपर मुझे जानते थे। सब नाटक ऐतिहासिक विषयों पर होते थे। पात्र हमारे इतिहास के महान लोग होते। यह अव्यावसायिक रंगमंच था। हालांकि व्यावसायिक रंगमंच भी था। तमाशा प्रस्तुतियां हनुमान थियेटर में होती थीं। बांगड़ी वाला का थियेटर उन्हीं क्षेत्रों में होता था जहां मजदूर रहते थे। बहुत कमाई होती थी। यहां हजारों लोगों की रोजी -रोटी रंगमंच पर ही निर्भर थी।

मैं कामगार मैदान के नजदीक काम करता था। मैं वामपंथियों के मोर्चे देखता, उनके बारे में सोचता। एक बार भूमिगत डांगे को वहां आना था। सब लोग जिज्ञासु थे। मैं भी गया था। मैंने कोई दोस्त नहीं बनाए थे। मेरी माँ ने मुझे बम्बई में दोस्त बनाने के लिए मना कर रखा था। मेरी माँ को डर था कि बम्बई में वे मुझे अपराधी बना देंगे। एक दिन मैंने अमर शेख, अण्णाभाऊ साठे और गवाणकर को देखा। मैंने उनको एक अपार भीड़ के सामने बिना

माइक के गाते देखा। उन दिनों वामपंथी बहुत शक्तिशाली थे। वे जो चाहे कर सकते थे। मेरे लिए यह सब नया था। वह सभा गैर -कानूनी थी, न मंच था, न माइक, अगर पुलिस आ जाती तो उन्हें भागना पड़ना था। अमर शेख ने धोती कुर्ता पहना था और बाकि दोनों ने पतलून कमीज पहनी थी। कुछ गानों में तो पूरा जन समूह उनके साथ गाता था। डांगे कद के छोटे थे, वे मुश्किल से नजर आते। उनके नाम की घोषणा हुई। उन्होंने उठ कर नमस्कार कहा। आधे घंटे तक पटाखे चलते रहे। उन्होंने बोलना शुरू किया। वे जो कह रहे थे वह भाषण न था। ऐसा लगा एक मजदूर बोल रहा है। अगले दिन गिरणगांव में बस उन्हीं की चर्चा थी। वहां सुने गए गीत मेरे दिमाग में घुमड़ रहे थे। मैंने दो आने में गीतों की किताब खरीद ली। मुझे लगा मैं बम्बई में हूँ। मुझे कुछ अलग करना चाहिए। मैं दुकान से छुट्टी लेकर चला जाता था। सारी सभाएं सुनता। एक दिन दुकानदार ने यह कह कर नौकरी से निकाल दिया कि अगर बीमार हो तो घर बैठ कर इलाज करवाओ।

मैं गांव लौटना नहीं चाहता था। पर मुझे मालूम नहीं था कि बम्बई में मैं क्या करूँ? मेरे अंकल ने मुझसे कहा 'अगर तुम बम्बई में किंतु नहीं रह सकते तो कहीं भी नहीं बच सकते हो। इस शहर में कोई भूखा नहीं मरता'। मुझे लगा कि यह सच है। मैंने अपनी गीतों की कापी उठाई और अपने दोस्त हसन के पास गया। हसन वहीं अंडे बेचता था जहां अमर शेख रहता था। हसन ने कहा "वह आदमी? मैं उसे जानता हूँ। वह रोज मुझसे एक अंडा खरीदता है।" मैं खाकी निकर में, नंगे पाँव था पर मैं वैसे ही हसन के साथ चल पड़ा। मैंने उनसे कहा "मैं गाता हूँ, स्कूल में प्रार्थना मैं ही गाता था।" उन्होंने मुझे बैठने को कहा। मैं जमीन पर बैठ गया। उन्होंने कहा "कुर्सी पर बैठो।"

शाहिर लोग शाम को पार्टी के दफ्तर में मिलते थे - गवाणकर, साठे और अमर शेख के साथ मैं भी वहां जाता था। इस्टा के लोग भी वहां आते थे। इस आन्दोलन के

फलस्वरूप बहुत सी कविताएं सामने आईं। मजदूरों का पहला कवि था नारायण सुर्वे। सब उसी के लिखे गीत गाते थे। अमर शेख यहीं नजदीक ही रहता था। उनका विवाह ज्योतिबाई से हुआ था। गवाणकर की पत्नी नौकरी करती थी।

अण्णाभाऊ साठे ने बहुत साहित्य लिखा पर उनकी पहचान नहीं बन पाई। लोगों ने उनका लिखा अपने नाम से छाप लिया। वे हर जगह नंगे पांव जाते। वे बहुत पीते थे। अगर आप उन्हें शराब पीना छोड़ने को कहते तो, छोड़ देने का वादा तो करते पर रुकते नहीं थे। लिखने से जो भी कमाई होती उसे वे खर्च कर देते। उनके एक बेटा था जिसका हाल ही में देहान्त हो गया है। अमर शेख और गवाणकर शराब नहीं पीते थे।

1958 में केसर बाई उनकी संस्था से जुड़ गई थी। 1973 में अकोला में हमारी शादी मंच पर सम्पन्न हुई थी। मेरा गोद लिया थाई पी.डब्ल्यू.पी. में काम करता है। उसने एक दिन कहा "आज तुम दोनों की शादी होगी।" बस वहीं मंच पर उन सबके समक्ष - जिन्होंने शो के लिए टिकट खरीदे थे - हमारा विवाह सम्पन्न हुआ। उस दिन मई दिवस था। विवाह हिन्दू रीति रिवाजों के अनुसार हुआ। अमर शेख के देहान्त के बाद हम दोनों एक साथ काम कर रहे थे। हमने भी सोचा कि शादी कर लेते हैं। वैसे भी हम एक ही घर में रहते थे। इस तरह हम एक दूसरे के सहायक भी बन गए। जब से मैं आन्दोलन से जुड़ा मेरे परिवार ने मुझसे नाता तोड़ लिया था। दूसरा एतराज उन्होंने केसर के हिन्दू होने पर किया था। केसर की मां ने हमारा साथ दिया।

1969 में अमर शेख एक दुर्घटना में गुजर गए। केसर और मैं भी साथ थे। हम लोग एक कार्यक्रम के लिए बरसी जा रहे थे। हमने खाना खा लिया तो लोगों ने हमें रात रुकने को कहा। काफी बारिश हो रही थी। अमर शेख ने मना कर दिया। 29 अगस्त, 1969 को रक्षा बन्धन था। इन्दापुर के पास हमारी स्टेशनवैगन स्किड कर गई। गाड़ी ने तीन बार पलटा मारा।

वसन्त अचरेकर, प्रेरणा और मुझे चोटें नहीं आई। अमर शेख मौके पर ही समाप्त हो गए। बाकी सबको हम पुणे के समून अस्पताल ले गए।

जब लोगों को पता चला तो वहां भारी भीड़ जमा हो गई थी। केसर के पिता अगले दिन गुजर गए। मैं वहां खून से लथपथ कपड़ों में बैठा था। अमर शेख को जब पुणे लाया गया तो पूरा शहर बन्द हो गया था। महापौर खुद आए थे। उनका शरीर बम्बई लाया गया।

शेख जैनू चांद (63 वर्ष) अमर पथक नामक कला मंच के संचालक

केसर बाई (60 वर्ष) गायिका शेख जैनू चांद की पत्नी, अमर कलापथक में काम करती थीं। आज भी क्रांति के गीत गाती हैं। बाबूजूद उम्र के आज भी एक उत्साहपूर्ण और सहज गायिका हैं।

मेरे पिता गुलाबराव का तमाशा दल था। लोगों ने उन्हें समझाया कि इसे तमाशा नर्तकी मत बनाओ। हम सातारा जिला के हैं। मैं वहीं पली बढ़ी। तमाशा मेरी जिदगी का एक हिस्सा था। मेरी माँ रेणुकाबाई कुड़चीकरीण एक बहुत ही कुशल तमाशा नर्तकी थी। वह हमेशा दौरे पर रहती। मैं उसके साथ जाती थी। मेरे पिता और शिक्षक कहते “यह तुम्हारी रोजी रोटी का सवाल है। तुम माँ के साथ जाओ”। वह मेरी परीक्षा पहले ही ले लेते। मेरी माँ ही मेरी गुरु थी।

मेरे सब दोस्त -सहेलियां उच्च जाति के थे। उन्हें मेरा तमाशा में काम करना पसन्द न था। अमर शेख के दल का एक इश्तिहार अखबार में छपा। मेरे गांव में एक वामपंथी था। उसने कहा कि इसे बम्बई भेज दो। अमर शेख ने मुझे लिवा लाने के लिए एक व्यक्ति को भेजा था। मैं बहुत हैरान थी। मेरे माता-पिता ने मुझे जाने को कहा। मेरे पिता मेरे साथ बम्बई गए थे। अमर शेख ने मुझे गाने को कहा था। मुझे रहने के लिए एक कमरा दिया गया। मेरे पिता भी उनके कहने पर रुक गए थे। संयुक्त महाराष्ट्र संघर्ष के दौरान हम लोग बेलगांव गए थे। इतनी भारी भीड़ देख कर मैं घबरा गई थी। अमर

शेख ने पिता जी से सुना तो उन्होंने कहा “एक छोटे से तमाशा दल में तुम्हारा क्या भविष्य है?” उन्होंने मुझे राजनीति की बातें समझाई। हमने गाने सीखे। हमने कामगार मैदान, शिवाजी पार्क में तमाशा प्रस्तुत किया। सभाओं में सेनापति बापट और अत्रे मौजूद रहते। उसके बाद भाषण शुरू होते। पहले एक और लड़की थी हेमा प्रभू। वह शादी करके चली गई तो मैं अकेली लड़की रह गई। फिर अण्णाभाऊ की गोद ली हुई बेटी शांता घोड़के भी दल में आ गई। हमने एक नृत्य मंडली का गठन किया। हम ने साजों और वेशभूषा का उपयोग भी शुरू कर दिया।

बाद में अमर शेख ने अपनी अलग मंडली बनाई। गवांकर और अण्णाभाऊ ने भी अलग मंडली बनाई थी। वामपंथियों ने किसी दूसरे रैन्क को स्थापित नहीं किया।

1969 में हुई दुर्घटना तो भयानक थी। मैं बहुत देर बेहोश रही। मेरे होंठ और नाक फट गए थे। तीन जगह टांके लगे थे। मैं तीन महीने अस्पताल में रही। मुझे दोबारा के.ई.एम. अस्पताल में दाखिल कराया गया था। मेरे चेहरे के तीन ऑपरेशन हुए थे। मेरी उम्र 31 वर्ष थी। मेरे पिता और अमर शेख का देहान्त हो गया था। मेरी माँ और बहन मेरे साथ रहती थीं। अमर शेख के परिवार ने मुझे दिए गए कमरे से निकालना चाहा था। गुलाबराव गणाचार्य ने ज्योतिबाई से कहा “तुम पागल हो, उसका बाप गुजर गया है वह कहां जाएगी?” वह जगह वामपंथी दल ने ही अमर शेख को दी थी। गुलाबराव ने कहा “केसर ने भी दल को अपना जीवन दिया है।” उसके बाद वे लोग चुप हो गए थे।

टिप्पणी :

- 1) एस.एस.मिरजकर। ‘अन्धाराकडून प्रकाशाकडे’ (मराठी) बम्बई। लोकवाङ्मय (1980)
- 2) मौरिस: औद्योगिक मजदूर दल
- 3) बम्बई में बसने वाला पहला समुदाय। अंग्रेजों ने उन्हें सूरत से बम्बई आने के लिए प्रोत्साहित किया। धर्मास्था से जोरास्ट्रियन व्यवसाय से व्यापारी,

- यह वर्ग शहर का सब से महत्वपूर्ण समुदाय बना।
- 4) मौरिस: औद्योगिक मजदूर दल
 - 5) मौरिस: औद्योगिक मजदूर दल
 - 6) वही पृष्ठ 111
 - 7) ज्योतिबा फुले (1827-1890) समाज सुधारक, वित्तक, साहित्यकार, जाति लिंग भेद सम्बद्ध विषयों को उठाया, जात-पात का विरोध, विधवा पुनः विवाह और महिला साक्षरता का समर्थन किया। समाजिक-आर्थिक शोषण का विरोध जागरूकता अभियानों के माध्यम से किया। बोलचाल की मराठी भाषा में साहित्य सर्जन। दलित और महिला लेखन के लिए आज भी एक प्रेरणा हैं।
 - 8) लगभग 1.5 अमरीकी डालर।
 - 9) श्रीपाद अमृत डांगे (1889-1991) प्रसिद्ध वामपंथी नेता। 50 वर्षों तक बम्बई की कपड़ा मिलों के मजदूरों के नेता।
 - 10) सुकोमल सेन: भारत का मजदूर वर्ग (के.पी.बागची एंड कं: 1977)
 - 11) औद्योगिक पूंजीवाद
 - 12) लोकप्रिय भक्ति गीतकार संत ज्ञानेश्वर द्वारा रचित गीत।
 - 13) एकल या सामूहिक दृष्टि से गाए जाने वाले गीत। भक्ति कवि एकनाथ ने दैनिक जीवन के रूपकों के माध्यम से दर्शन को समझाया गया है। उनके गीतों में हास्य-विनोद भी भरपूर है।
 - 14) पेटी: हारमोनियम
 - 15) एक लोक शैली
 - 16) एक हजार साल से अंतिम मार्ग का रास्ता भगवान के प्रति श्रद्धा ने भारतीय मानसिकता को प्रभावित किया है। आपका अपना मूल्य आपके निजी सामाजिक पद से नहीं बनता यह स्थापित होता है आपकी निष्ठा से। यह आध्यात्मिक मार्ग सिर्फ ब्राह्मणों के लिए नहीं सबके लिए खुला है।
 - 17) ज्ञानेश्वर (1275-1296) एक ब्राह्मण परिवार में जन्म

हुआ था। अपनी ही जाति के लोगों ने इनके परिवार का बहिष्कार किया था। भगवत गीता पर ज्ञानेश्वरी शीर्षक से एक महाकाव्य के रूप में व्याख्या की रचना की थी। तुकाराम (1608-1690) ज्ञान देव के बाद सबसे महत्वपूर्ण कवि। पूरे महाराष्ट्र में उनके गीत अभंग गाए जाते हैं। व व्यापारी परिवार से थे। नामदेव (1270-1350) सुधरने तक एक चोर और खूनी। हिन्दी और मराठी में रचित कुछ कविताएं गुरु ग्रंथ साहिब में भी शामिल हैं।

एकनाथ (1533-1599) विद्वान और कवि। उनके लोक गीत और भारुड आज भी गाए जाते हैं।

- 18) वारी: शब्द का अर्थ है तीर्थयात्रा। यहां घाट में चंद्र भागानदी किनारे स्थित पंढरपुर। विट्ठल-भगवान कृष्ण का अवतार। बहुत लोकप्रिय देवता है। उन्हें विठोबा नाम से भी जाना जाता है। वारकरी गैर जातीयतावादी होते हैं। हर साल हजारों वारकरी (इनमें महिलाएं भी होती हैं) पैदल पंढरपुर जाते हैं। आषाढ़ मास के 11वें दिन ये लोग नाचते गाते, ढोल मंजीरे बजाते इस यात्रा को शुरू करते हैं। आजकल बड़ी संख्या में वारकरी दादर के नजदीक बड़ाला के मंदिर में इकट्ठे होते हैं। इनमें बड़ी संख्या में कपड़ा मिलों के मजदूर होते हैं। यह इतना महत्वपूर्ण दिन है कि महाराष्ट्र के मुख्य मंत्री अपनी पत्नी सहित इस मंदिर में हर साल पूजा करते हैं।
- 19) मौरिस औद्योगिक मजदूर दल।
- 20) बी.बी.कुलकर्णी, हिस्ट्री ऑफ द इंडियन कॉटन टेक्स्टाइल इंडस्ट्री (बॉम्बे मिल ओनरर्स एसोसियेशन 1979)
- 21) राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ: हिन्दू उग्र राष्ट्रीय सांस्कृतिक संगठन। इसके राजनैतिक सरोकार भी हैं।
- 22) बाइसिनासिस: सूत के रेशे सांस लेते समय शरीर में जाने से मिल में काम करने वाली बिमारी।

- 23) कोंकण की मुख्य सांस्कृतिक शैली। सामयिक विषयों पर टिप्पणी तत्काल की जाती है। इस शैली में हास्य और व्यंग्य का मुख्य स्थान है। ग्रामीण मेलों के दौरान इसे खेला जाता है। हास्य, नवीनता और प्रासंगिकता इसके मुख्य अंग होते हैं। अभिनय करने वाले किसान होते हैं। वह रंगबिरंगी वेशभूषाएं पहनते हैं और बहुत नई नई ध्वनियों का इस्तेमाल करते हैं।
कोंकण में पसन्द की जाने वाली दूसरी लोक शैली है ज्ञाकड़ी। इसे बहुत तेज गति से जवान पुरुष समूह नृत्य के रूप में पेश करते हैं।
- 24) मशहूर 'तमाशों' की जन्मस्थली घाट थे। अधिकांश लोक शैलियों की तरह निचली जातियां ही तमाशप्रस्तुत करती हैं। तमाशा में भारुड है गोन्डल, भजन, पोवाड़ा है। कामुक गाने और नृत्य है। अगर कुछ नहीं है तो वह है धार्मिक विषय वस्तु। पारम्परिक तमाशा के आरम्भ में गणेश या स्थानीय देवी देवता प्रार्थना गाई जाती है। इसके बाद भगवान कृष्ण, गोपियों और ग्वालनों के बीच मजहियां-शरारती 'ग्वालन' और 'बटवानिया' के माध्यम से आदान-प्रदान होता है। प्रस्तुति का मुख्य अंग होता है लावनी नृत्य (कहने को तो कामुक नृत्य होता है पर इसमें आध्यात्मिक और भक्तिमय भावनाएं भी व्यक्त की जाती हैं) पोवड़ा और वाग।
- 25) तिलक और लोखंडे: एक ब्राह्मण, दूसरा गैर ब्राह्मण। एक स्वतंत्रता सेनानी, दूसरा सुधारक। दोनों, ने अपने-अपने समाचार पत्रों 'केसरी' और 'दीनबंधू' के माध्यम से अपनी-अपनी लड़ाई लड़ते रहे। मिल मजदूर दोनों को प्यार करते थे।
- 26) मनोहर कदम: नारायण मेधा जी लोखंडे (मराठी) (बम्बई महात्मा फुले समताप्रतिष्ठान और अक्षरप्रकाशन 1995)
- 27) तिलक: सार्वजनिक गणेशोत्सव (बम्बई सार्वजनिक गणेशोत्सव संस्था 1992)
- 28) ए.समरथ: अशोक चौसालकर द्वारा नवरात्र में शिवाजी अँन्ड इंडियन नॅशनल मुळनेट से उद्धृत (बम्बई लोक वाग्मय गृह 2000)
- 29) महाराष्ट्र में शिवाजी के बारे में तीन अलग -अलग मत हैं। हिन्दुत्व के पुजारी उन्हें हिन्दुओं का रक्षक मानते थे। गांधीवादी और मार्क्सवादी मानते थे कि वे एक ऐसे शासक थे जिन्होंने अपने राज्य से बंधुआ मजदूरी और सामन्तवाद का खात्मा किया। वह यह भी मानते थे कि शिवाजी ने यह काम छापामार युद्ध के माध्यम से किया। ज्योतिबा फूले का मानना था कि शिवाजी ने गैर-ब्राह्मणी युद्ध किया।
- 30) इसे पुनः जीवित करने के पीछे भी पौरुष का बड़ा हाथ था। शिवाजी एक साहसी बहादुर पुरुष थे और हर प्रकार के समारोह का मुख्य अंग होता था पराक्रम और वीरता।
- 31) चौथा अध्याय देखें।
- 32) ब्रितानी राज में उत्तर पश्चिम सरहदी क्षेत्र (अब अफगानिस्तान में) के मुसलमान वहां के आदिवासी क्षेत्र के थे। उनमें से अनेक भारत में बस गए।
- 33) चन्दावरकर: ओरिजनस् ऑफ इंडस्ट्रीयल कॉपिटलीजम
- 34) उषा डांगे: उषाकाल (मराठी) (बम्बई: ग्रन्थाली प्रकाशन 1998)
- 35) दरअसल यह रोग है जिसके बारे में कपड़ा मिलों के मजदूर कुछ नहीं जानते थे।
- 36) मौरिस: इंडस्ट्रीयल लेबर फोर्स
- 37) कदम: नारायण मेधा जी लोखंडे पृष्ठ 63
- 38) मजदूर प्रबन्धकों और कलकर्कों को 'मास्टर' कहकर सम्बोधित करते थे। इस शब्द का अर्थ (स्कूल मास्टर के संदर्भ में) पढ़ा लिखा माना जाता है।
- 39) कदम: नारायण मेधाजी लोखंडे।
- 40) शोलापुर कम्प्यून (5-11 मई, 1930) से लोगों ने शोलापुर शहर पर नियंत्रण रखा। संघर्ष थोड़े समय के लिए चला था। मिल मजदूरों ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

- थी। दंगे तो हुए साथ ही पथराव, रेल लाइनों पर रुकावटें और पुलिस पर हमले भी हुए थे। महारानी की तस्वीरों को हटा दिया गया था। कच्चहरियों को जला दिया गया था। उनकी जगह जनता की कच्चहरियां खोल दी गई थीं। चार दिन तक शहर में ब्रिटानी शासन समाप्त हो गया था। 12 मई को मार्शल लॉ लागू कर दिया गया था (गोल्डन जूबली पैम्फेल्ट बॉम्बे महाराष्ट्र स्टेट कोन्सिल कम्यूनिस्ट पॉट्री ऑफ इंडिया 1975)
- 41) एक प्रार्थना है और रामायण व महाभारत की कहानियों की लोक व्याख्या।
 - 42) साने गुरुजी (1898-1950) एक शिक्षक थे। एक सक्रिय कार्यकर्ता, साहित्यकार के नाते। अधिकतर बच्चों के लिए लिखते थे। डांगे के साथ बहुत सी हड्डतालों में योगदान दिया। अधिक काम उत्तर महाराष्ट्र के खानदेश में किया। जब सी.पी.जे. ने भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया तो वामपंथियों का साथ छोड़ कर समाजवादियों के नजदीक चले गए।
 - 43) वीरता से ओतप्रोत गाथा, पोवाड़ा गायकों को शाहिर या गाथा गायक कहते थे। मूलरूप से शाहिर शिवाजी की गुरिल्ला सेना में सिपाही और युद्ध गीतों के गायक थे। यह गीत प्रेरणा दायक थे। शाहिर शिवाजी और उनकी सेना से लगातार समर्क बनाए रखते थे। शिवाजी की जो तस्वीर पोवाड़ा में नजर आती है वह उपन्यासों और नाटकों के मुकाबले ज्यादा, मानवीय और वास्तविक है।
 - 44) बाबू गनू (1908-1930) मिल मजदूर स्वदेशी आन्दोलन के दौरान सीवन सत्याग्रह में भाग लिया। जेल भेजने से पहले नाराज जज ने पूछा “विदेशी कपड़े जलाकर तुम ट्रक के नीचे ब्यों नहीं गिरे यह कैसा विद्रोह? तुम्हें चोट तो आती” जेल से छूटकर फिर आन्दोलन में हिस्सा लिया। बाद में जब सत्याग्राही विदेशी कपड़े जला रहे थे तो आखिरी ट्रक के पहियों के नीचे खुट को फेंक दिया था। आज मराठी स्कूलों की पुस्तकों में उनका नाम मजदूरों के लिए विदेशी राज्य के विरोध में शहीद हुए सत्याग्राही दर्ज है।
 - 45) भीमराव आंबेडकर (1891-1956) दलितों के सबसे महत्वपूर्ण नेता।
 - 46) एस.वी. केतकर: डी.के.बेडेकर की संयुक्त महाराष्ट्र (मराठी में)। पुणे चित्रशाला प्रकाशन 1947
 - 47) विश्वनाथ शिंदे: पारम्परिक मराठी तमाशा अनी आधुनिक वागानाजय (मराठी) (पुणे: प्रनिम प्रकाशन 1994)
 - 48) कृष्णा देसाई (1919-1970) गिरणगांव के बेहद लोकप्रिय और युद्धप्रिय वामपंथी नेता। 1960 में पार्टी के प्रमुख स्तम्भ। बाद में शिवसेना के लड़कों द्वारा हत्या।
 - 49) भास्कर.वी.वरेरकर (1883-1964) सुपरिचित लेखक, नाटककार, कांग्रेस राजनीति में सक्रिय 1950 के दशक में राज्य सभा के सदस्य।

अनुवादक : सरोज वशिष्ठ







